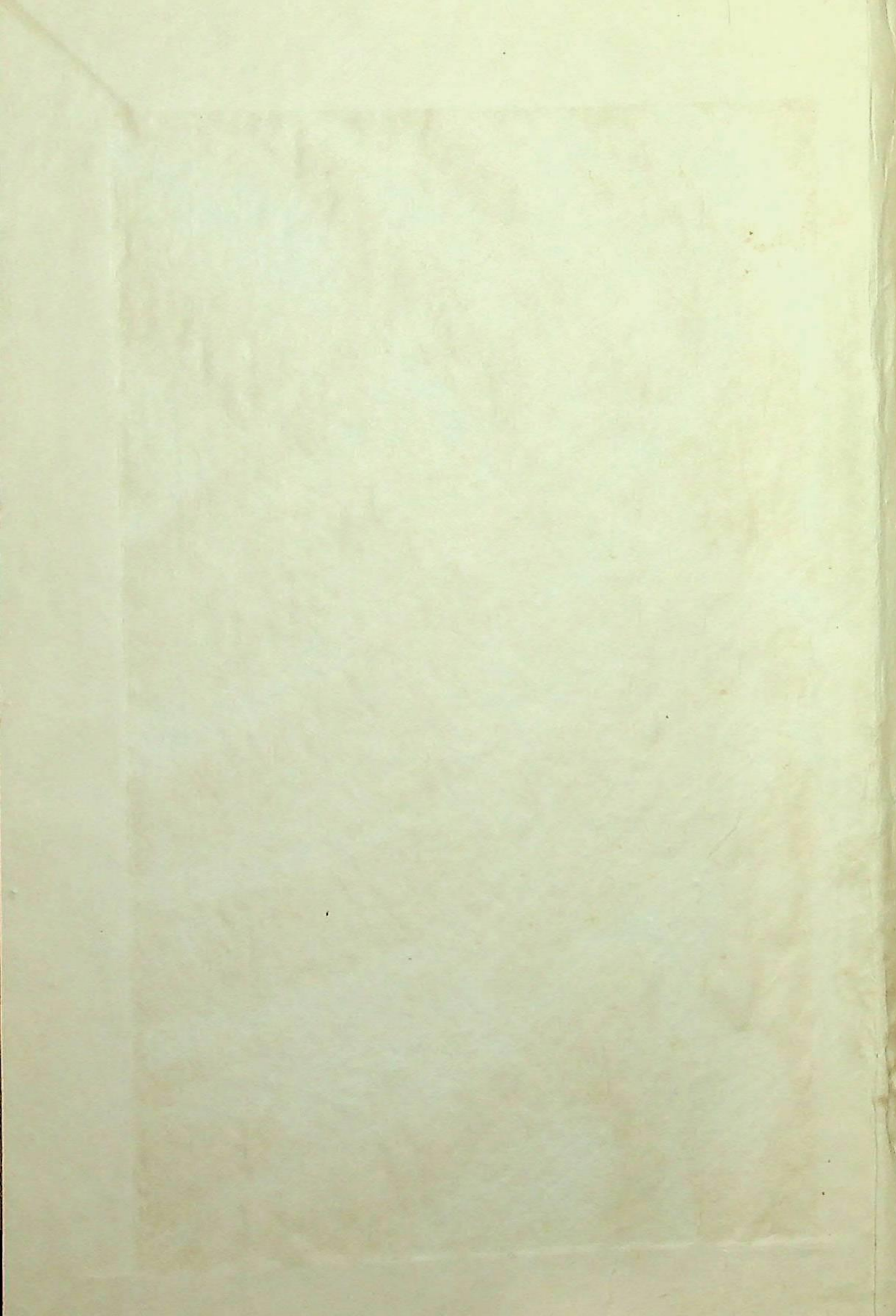


उपन्यासकार

प्रेमचन्द

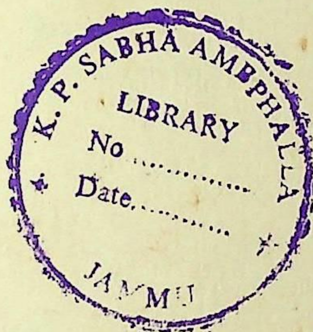
श्यामसुन्दर घोष





उपन्यासकार प्रेमचन्द

[प्रेमचन्द की मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन]



श्यामसुन्दर घोष
प्राध्यापक हिन्दी विभाग
गोड्डा कालेज, गोड्डा (संताल परगना)

प्रकाशक
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा-दिल्ली-६

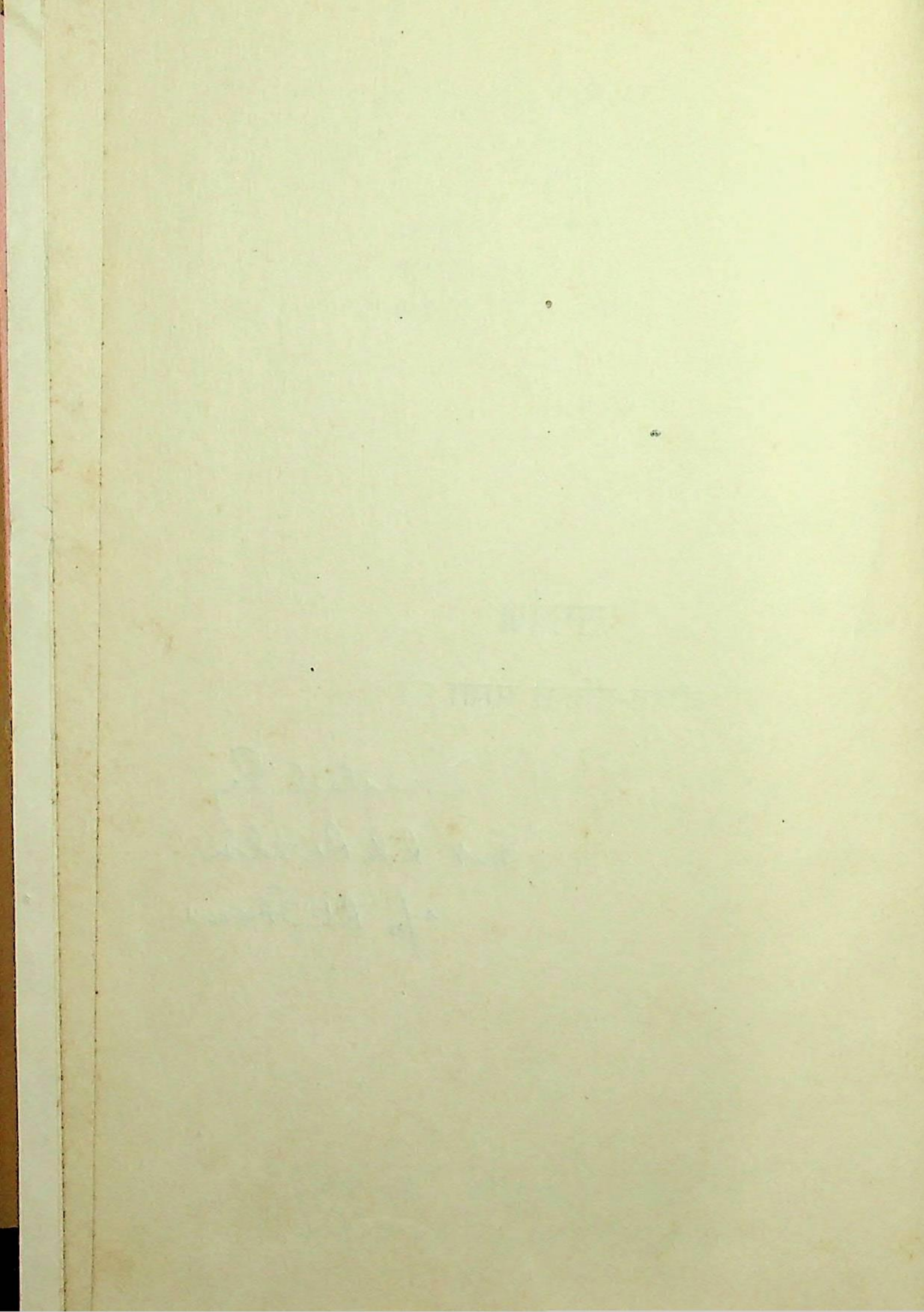
भारती साहित्य मन्दिर
(एस. चाँद एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)
रामनगर, नई दिल्ली
हज़रतगंज, लखनऊ
लेमिंगटन रोड, बम्बई
माई हीरां गेट, जालन्धर

मूल्य : रु० ४.००

भारती साहित्य मन्दिर द्वारा प्रकाशित एवं
भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली द्वारा मुद्रित

समर्पण

जीवन-संगिनी आशा को



दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरे प्रेमचन्द विषयक कुछ आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है। इसके पूर्व मेरे प्रेमचन्द विषयक कुछ लेख "अध्ययन-विश्लेषण" में संकलित हुए हैं जिसका प्रकाशन सन् १९५९ में हुआ।

इन निबंधों में प्रेमचन्द का विश्लेषणात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। ऐसे अध्ययन एकदम नहीं हुए हैं, ऐसा दावा करना तो कठिन है, पर जो हुए हैं वे काफी नहीं हैं और उनसे मुझे संतोष नहीं है। मैंने प्रेमचन्द को जिस दृष्टि से देखने की चेष्टा की है उससे प्रेमचन्द का महत्त्व नये सिरे से स्थापित होता है। यों मेरी प्रेमचन्द विषयक सारी सामग्री तो अभी अप्रकाशित है, क्योंकि प्रेमचन्द पर मेरा शोध-कार्य चल ही रहा है। लेकिन उसके एक अंश को, मैंने पाठकों और विद्वानों के समक्ष, उपस्थित करना अपना कर्त्तव्य समझा है।

पुस्तक को लेकर पाठक एक प्रश्न पूछ सकते हैं कि जब पुस्तक का नाम उपन्यासकार प्रेमचन्द है तो उनके उपन्यासों पर अलग-अलग क्यों नहीं विचार किया गया है। मैं इस प्रश्न का उत्तर एक प्रश्न पूछ कर ही दूंगा। क्या वैसा करना मेरे लिये नितान्त आवश्यक था? प्रेमचन्द पर उपलब्ध जो भी आलोचना-ग्रंथ हैं प्रायः उन सबमें उनके उपन्यासों का अलग-अलग विवेचन है। कुछ में तो पर्याप्त गम्भीरता का परिचय दिया गया है अर्थात् उपन्यासों के मंतव्यों का उचित विश्लेषण हुआ है लेकिन अधिकांश में इस बहाने पृष्ठ-संख्या ही बढ़ाई गई है। कुछ पृष्ठों में कथानक का सारांश देकर और फिर कथानक, चरित्र-चित्रण, विचार-विवेचन, कला-विवेचन आदि का सहारा लेकर पुस्तक को चलता कर देने की चेष्टा है। मैंने इस प्रवृत्ति से बचने की चेष्टा की है। मैंने तो उपन्यासकार प्रेमचन्द की मूल प्रवृत्तियों को समझने की चेष्टा की है। इस क्रम में मेरे सामने प्रेमचन्द के सभी उपन्यास समन्वित रूप में आये हैं, अलग-

अलग इकाई रूप में नहीं। फिर भी मैं सोचता हूँ कि प्रेमचन्द के उपन्यासों का विकास-क्रम एक ऐसा अध्याय लिखा जा सकता है यद्यपि यह भी सही है कि इससे संबंधित विचार इन निबंधों में ही यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे। यदि इस पर विस्तार से लिखना आवश्यक हुआ तो आगे लिखूँगा।

प्रेमचन्द के औपन्यासिक शिल्प-विधि के क्रमिक विकास पर अलग से बहुत कम लिखा गया है। इस दृष्टि से यह कहना सही होगा कि उनके वस्तु-पक्ष पर जितना विचार-विमर्श हुआ है उतना शिल्प-पक्ष पर नहीं जबकि वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द का एक विशिष्ट शिल्प है जो अपनी सरलता और सहजता के कारण ही आलोचकों द्वारा अनदेखा रहा गया है। सम्प्रति इस विषय पर मैंने कम लिखा है। आगे फिर कभी विस्तार से लिखने का इरादा है।

पुस्तक प्रकाशित होते देख सबसे पहले आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा की याद आती है। प्रेमचन्द विषयक अध्ययन में रुचि लेते देख उन्होंने मुझे बार-बार प्रोत्साहित किया था। आज यदि वे जीवित होते तो पूरी पुस्तक उनकी नजरों से होकर गुजरी होती; और तब अधिक निर्दोष होती।

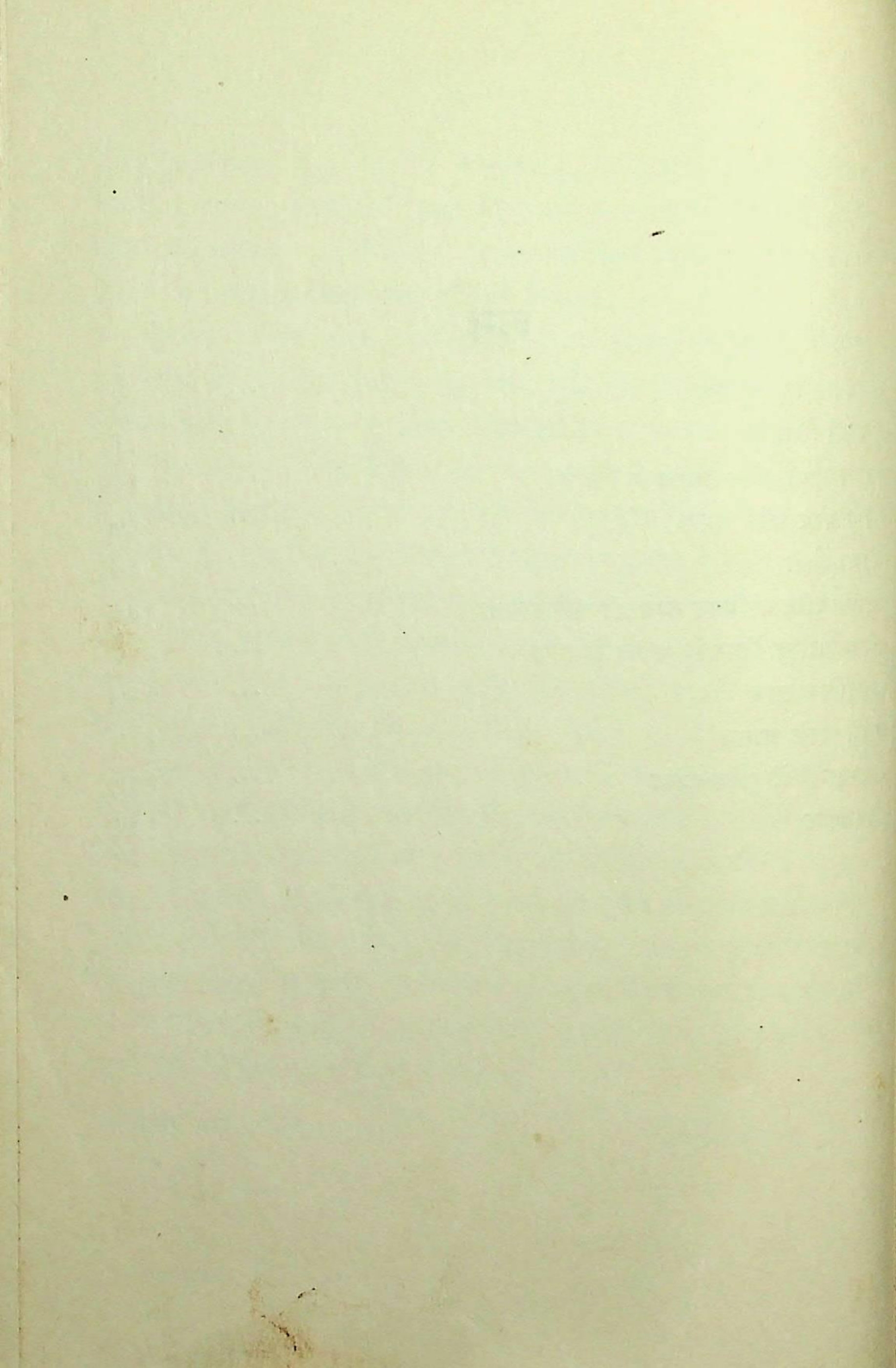
पुस्तक की पांडुलिपि टंकित कराने में मुझे अपने साढ़ू श्री समेरुचन्द्र दास जी से जो सहायता मिली है उसके लिये मैं उनका चिरकृतज्ञ हूँ। मित्रवर डाक्टर विष्णुकिशोर झा 'बेचन' और अपने ग्रामीण श्री नीलकंठ झा आदि ने समय-समय पर पुस्तकों की जो सहायता दी है वह भी भूलने की चीज नहीं। श्री भीमसेनजी ने जितने कम समय में और जिस सुरुचिपूर्ण ढंग से पुस्तक प्रकाशन की व्यवस्था की है वह संतोष का विषय है। अन्त में मैं उन सभी विद्वानों का आभार मानता हूँ जिन्होंने अपने आशीर्वचनों से मुझे प्रेरित किया है कि मैं आलोचना जैसे दुस्तर क्षेत्र में प्रवेश करूँ।

दीपावली, सन् १९६४।

—श्यामसुन्दर घोष

हिंदी विभाग,
गोड्डा कालेज,
गोड्डा (संताल परगना)।

क्रम



जीवन और कृतित्व

गरीबी और मुसीबतों का एक अखलाकी पहलू भी है, इन्हीं आजमाइशों में इंसान इंसान बनता है, उसमें खुद-एतमादी पैदा होती है।

—प्रेमचन्द

—चिट्ठी पत्री २, पृ० २४१

प्रेमचन्द का जन्म ३१ जुलाई शनिवार सन् १८८० ई० में हुआ। पिता श्री अजायबलाल श्रीवास्तव ने धनपतराय नाम रखा और चाचा ने नवाबराय। स्कूल में धनपतराय नाम से दाखिल हुए। नवाबराय नाम से घर पर पुकारे जाते थे।[1]

सन् १८८५ ई० में घर पर ही एक मौलवी के द्वारा शिक्षा प्रारम्भ हुई। सन् १८८८ ई० में जब आठ वर्ष के थे, मां का देहान्त हुआ। पिता ने दूसरा विवाह किया। विमाता घर आई। सन् १८९५ ई० में पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ। तब नवीं कक्षा में पढ़ते थे। यहीं से गृह-कलह का सूत्रपात हुआ। पत्नी उम्र में बड़ी, बदसूरत और बेहया थीं और जबान की मीठी भी न थीं। विमाता से उनकी नहीं पटी।

सन् १८९७ ई० में पिता का देहान्त हुआ। परिवार का भार कन्धों पर पड़ा। कुल पांच प्राणी थे। पिता की बीमारी के कारण एण्ट्रेंस की परीक्षा नहीं दे सके। ज्यों-त्यों कर सन् १८९८ ई० में मैट्रिकुलेशन परीक्षा, द्वितीय श्रेणी में, पास की। शिक्षा आगे नहीं बढ़ सकी। एक तो गणित कमजोर था, जिससे एफ० ए० में दाखिला नहीं हुआ; दूसरे परिवार का बोझ सिर पर था। कुल चौदह वर्षों का

---

(१) इसके अतिरिक्त भी उनका एक और नाम था बम्बूक अर्थात् बहुत हँसने और कहकहे लगाने वाला। देखिये रहबर की पुस्तक 'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' : पृ० ५७।

समय शिक्षा-काल रहा जो कठिनाइयों और आपदाओं से भरा था। पढ़ने में तेज थे और पढ़ने की लालसा भी थी, लेकिन परिस्थितियां अनुकूल नहीं रहीं।

सन् १८९९ ई० में अठारह रुपये मासिक पर चुनार मिशन स्कूल में, जहां एण्ट्रेंस तक की पढ़ाई होती थी, पहली नौकरी की। दूसरी नौकरी बहराइच में सन् १९०० ई० में की। इस प्रकार ज्यों-त्यों कर उन्नीसवीं शताब्दी के दो दशक बीते।

सन् १९०१ ई० से उर्दू में उपन्यास लिखना शुरू किया।[2] यहीं से साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। सन् १९०२ ई० में पहला उपन्यास उर्दू में प्रकाशित हुआ जिसके नाम के सम्बन्ध में आलोचकों के विभिन्न अनुमान हैं।[3] निश्चित

---

(२) डॉ० राजेश्वर गुरू अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' में लिखते हैं—"सन् १९९८ ई० में 'इसरारे मुहब्बत' नाम से एक उपन्यास लिखा जो 'आवाजे खलक' (बनारस से प्रकाशित होने वाले उर्दू साप्ताहिक) में धारावाहिक (अमृतराय जी के अनुसार ८ अक्तूबर, १९०३ से १ फरवरी, १९०५ तक) प्रकाशित हुआ।
—पृ० ३१

२९ जनवरी, १९२१ को प्रेमचन्द ने अपने दोस्त इम्तयाजअली ताज को लिखा—"हम खुर्मा व हम सबाब और किसना वगैरह मेरी इब्तदाई तसानीफ हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने शाया की थी। दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हॉल प्रेस ने। ये गालिबन सन् १९०० की तसानीफ हैं।" मुंशी दयानारायण निगम को भी एक पत्र में अपना संक्षिप्त जीवन वृत्त देते हुए उन्होंने ७ जुलाई, १९२६ को लिखा था। सन् १९०१ से लिटरेरी जिन्दगी शुरू की।
—दृष्टव्य मंगलाचरण, भूमिका

(३) श्री अमृतराय के अनुसार सन् १९०१ ई० के आस-पास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास 'श्यामा' लिखा। सन् १९०२ ई० में 'प्रेमा' और सन् १९०४ ई० में 'हम खुर्मा व हम सबाब'। —प्रेमचन्द : एक अध्ययन, पृ० ३०

डा० राजेश्वर गुरू ने सन् १९०१ ई० में रचित 'प्रतापचन्द्र' उर्दू उपन्यास का उल्लेख किया है। सन् १९०२ में 'कृष्णा' और 'वरदान' के लिखे जाने का उल्लेख है।
—वही, परिशिष्ट

सूचना उपलब्ध नहीं है। सन् १९०४ ई० में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ।[४] इस बीच नौकरी, शिक्षा और ट्रेनिंग चलती रही। सन् १९०२ ई० में प्रतापगढ़ के सरकारी स्कूल से दो साल की ट्रेनिंग के लिये इलाहाबाद ट्रेनिंग कालेज में भर्ती हुए। सन् १९०४ ई० में गवर्नमेंट सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद से परमानेंट जूनियर इंगलिश टीचर्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। सर्टिफिकेट में लिखा था (Not qualified to teach mathematic. Conduct satisfactory and regular. He worked earnestly and well).

लेखन का श्रीगनेश

सन् १९०५ ई० में आर्य समाजी ढंग से दूसरा विवाह बालविधवा शिवरानी देवी से हुआ। इसी समय से कानपुर से निकलने वाले उर्दू मासिक 'जमाना' में लिखने लगे। सबसे पहले एक आलोचनात्मक लेख लिखा।[५] इसी क्रम में जमाना के सम्पादक दयानारायण निगम से मित्रता हुई। कालान्तर में जमाना के सह-सम्पादक हुए। एवंविध सन् १९०१ से सन् १९०५ ई० तक का समय इनके लेखन का प्रारम्भिक काल है। इसे साहित्यिक जीवन का पहला दौर कहा जा सकता है।

प्रेमचन्द-युग का प्रारम्भ

सन् १९०७ ई० में बंगभंग हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित हुए। इसी क्रम में सबसे पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' लिखी जो 'जमाना'

---

(४) दयानारायण निगम के नाम १७ जुलाई, १९२६ के खत में प्रेमचन्द ने लिखा है—'१९०४ में एक हिन्दी नावल 'प्रेमा' लिखकर इण्डियन प्रेस से शाया कराया।' इस पर अमृतराय लिखते हैं कि 'प्रेमा' १९०७ में निकली जैसा कि आप स्वयं उस पर अंकित देखेंगे। १९०४ में निकलने की बात मुंशीजी ने गलत लिखी है। मुंशीजी की बात का श्री अमृतराय यही आशय लेना ठीक समझते हैं कि यह उपन्यास लिखा गया १९०४ में, पर छपा १९०७ में।

(५) फरवरी १९०५ के जमाना में प्रकाशित हकीम वरहम साहब रचित उपन्यास 'कृष्ण कुंवर की आलोचना'।

में प्रकाशित हुई। सन् १९०९ ई० में देश-प्रेम-प्रधान पांच कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' प्रकाशित हुआ। सन् १९१० ई० में किताब सरकार द्वारा जब्त कर ली गई क्योंकि उसमें राजद्रोह की गंध थी। अब नवाबराय के नाम से लिखना सम्भव नहीं रहा। मुंशी दयानारायण निगम 'प्रेमचन्द' नाम तजवीज करते हैं। यहीं से अर्थात् बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से प्रेमचन्द युग प्रारम्भ होता है।[६]

क्रियात्मक प्रारम्भ

प्रेमचन्द युग का क्रियात्मक प्रारम्भ सन् १९१३ ई० से होता है जब वे हिन्दी में कहानियां लिखना शुरू करते हैं। लिखना जमकर नहीं हो पाता। सन् १९१४ ई० में पेचिश से बेतरह परेशान रहे। स्कूल के सब-डिप्टी इन्सपेक्ट्री के दौरे के सिलसिले में बीमारी भी बढ़ी और समय का भी अभाव रहा। सन् १९१५ ई० के दिसम्बर माह की सरस्वती में पहली हिन्दी कहानी 'सौत' प्रकाशित हुई। सन् १९१६ ई० में गणित एच्छिक विषय हो जाने से इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इण्टरमीडियेट परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की। इसी वर्ष मार्च की सरस्वती में 'सज्जनता का दंड' और जून की सरस्वती में 'पंच परमेश्वर' कहानी प्रकाशित हुई।

हिन्दी लेखन का पहला दौर

सन् १९१७ ई० में हिन्दी में पहला कहानी संकलन 'सप्तसरोज' हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने लिखी। एवंविध सन् १९१३ ई० से सन् १९१७ ई० तक का समय इनके हिन्दी लेखन का पहला दौर है।

औपन्यासिक युग का प्रारम्भ

सन् १९१८ ई० में हिन्दी में सबसे पहला उपन्यास 'सेवा-सदन' हिन्दी पुस्तक

---

(६) नवाबराय के मरहूम होने के चार-पाँच महीने बाद सन् १९१० के अक्तूबर-नवम्बर में आकर प्रेमचन्द का जन्म हुआ। इस नये नाम के साथ छपने वाली पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' है।

—कलम का सिपाही, अमृतराय, पृ० ११३

एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। यहीं से प्रेमचन्द का औपन्यासिक युग प्रारम्भ होता है। 'सेवा-सदन' के द्वारा ही वे एक सफल उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-जगत में प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार सन् १९१८ ई० से हिन्दी लेखन का दूसरा दौर शुरू हुआ। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से प्रेमचन्द हिन्दी-जगत पर छाने लगते हैं। उनका युग प्रवर्तक रूप यथार्थतः इस दूसरे दौर के प्रारम्भ में ही सामने आया। इसी वर्ष एक कहानी-संग्रह 'नवनिधि' प्रकाशित हुआ।

जीवन और साहित्य का परिवर्तन बिन्दु

सन् १९१९ ई० में स्वतन्त्र छात्र की हैसियत से इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० की परीक्षा दी और अंग्रेजी, फारसी और इतिहास विषय लेकर द्वितीय श्रेणी में पास हुए। साहित्य-सेवा के साथ-साथ ऊंची शिक्षा प्राप्त करना और एम० ए० की डिग्री लेकर वकील बनना जीवन का लक्ष्य था। पर सन् १९२० ई० में गोरखपुर में गांधीजी का भाषण सुना और असहयोग आन्दोलन से प्रभावित हुए। यही उनके जीवन का परिवर्तन बिन्दु है। सरकारी नौकरी से इस्तीफा दिया। इस प्रकार सन् १९१८ से सन् १९२० ई० का समय उनके जीवन में विशेष महत्त्व का है। इसी बीच नई दिशा की ओर मुड़े और भावी जीवन की तैयारियां हुईं।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से साहित्य-सेवा में जी-जान से जुटे। सरकारी नौकरी की बाध्यता और भय नहीं रहा। नौकरी से इस्तीफा देने के बाद शिक्षा-सम्बन्धी विचारों में आलोचनात्मक कोण उभरा। मौलिक लेखन के साथ-साथ अनुवाद की ओर आकृष्ट हुए। कारण सम्भवतः तीन रहे होंगे—(१) हिन्दी साहित्य की समृद्धि, (२) प्रिय लेखकों और कृतियों को हिन्दी में लाने का ध्येय, और (३) आर्थिक लाभ।

सरकारी नौकरी छोड़कर साहित्य को अधिकाधिक समय देने के लिये तत्पर हुए। पर गुजारा चलता न देख सन् १९२१ ई० में मारवाड़ी विद्यालय कानपुर में नौकरी की। स्वतन्त्र चेता साहित्यकार की विद्यालय के मैनेजर महाशय काशीनाथ से पटी नहीं। अतः अगले ही वर्ष इस्तीफा दिया। फिर काशी से

निकलने वाली 'मर्यादा' पत्रिका के सम्पादक हुए।

सन् १९२३ ई० में काशी में सरस्वती प्रेस खोला। इस वर्ष एक साथ तीन कृतियां 'प्रेमपचीसी' (कहानी संग्रह), 'संग्राम' (नाटक) और 'प्रेमाश्रम' (उपन्यास) प्रकाशित हुईं। फिर तो धड़ल्ले से पुस्तकें निकलने लगीं। सन् १९२४ में 'प्रेमप्रसून' और 'कर्बला', सन् १९२५ ई० में 'रंगभूमि', सन् १९२६ ई० में 'प्रेम-प्रमोद', प्रेम-प्रतिमा', 'प्रेम-द्वादशी' और 'कायाकल्प', सन् १९२७ ई० में 'निर्मला', सन् १९२८ ई० में 'सम्पादक मोटेराम शास्त्री' (प्रहसन), सन् १९२८ ई० में 'प्रतिज्ञा' (यद्यपि इसका लेखन-काल सन् १९०५ के लगभग है), 'प्रेम-तीर्थ', 'प्रेमचतुर्थी', 'अग्नि समाधि' और 'पांच फूल', सन् १९३० ई० में 'समर यात्रा', 'सप्रसुमन', 'न्याय', 'चांदी की डिबिया' और 'हड़ताल' (गालसवर्दी के जस्टिस, सिल्वर बाक्स और स्ट्राइफ नाटक के अनुवाद), सन् १९३१ ई० में 'गबन' और 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' (जवाहरलाल नेहरू के लेटर्स फ्राम ए फादर टू हिज डाटर), सन् १९३२ ई० में 'कर्मभूमि' और 'प्रेरणा तथा अन्य कहानियां', सन् १९३३ ई० में 'प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियां' और 'प्रेम की वेदी' (नाटक) और सन् १९३६ ई० में 'गोदान' और 'मानसरोवर' का प्रकाशन हुआ। इस बीच साहित्य-सेवा के साथ-साथ कई काम होते रहे; सन् १९२४ ई० में काशी विद्यापीठ में नौकरी की, सन् १९२५ ई० में लखनऊ में टेक्स्ट बुक तैयार करने के लिये नियुक्त हुए, सन् १९२७ में 'माधुरी' के सम्पादक हुए, सन् १९३० ई० में 'जागरण' और 'हंस' का कार्य-भार सम्भाला और सन् १९३४ ई० में बम्बई की अजन्ता सिनो-टोन में साल भर की नौकरी की।

इतने संक्षिप्त काल में अनेक बाधाओं के रहते हुए प्रेमचन्द ने अपने लेखन से जो महत्त्व अर्जित किया वह चौकाने वाला है। जहां तक उपन्यासों का प्रश्न है, कुल अठारह वर्षों में उन्होंने हिन्दी उपन्यास को जो ऊंचाई और विस्तार दिया वह अकल्पनीय है। एक ओर 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' जैसी सीधी-सरल कथा-कृतियां हैं, जिनकी कथा-योजना और लेखकीय अभिप्राय स्पष्ट और सहज ग्राह्य हैं; दूसरी ओर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'गोदान' जैसी बहुअर्थगर्भी कथा-कृतियां हैं जिनकी कथा-योजना शैली सम्बन्धी कई नये

प्रश्नों को जन्म देती हैं और लेखकीय अभिप्राय कुछ हद तक जटिल और दुरूह सिद्ध होते हैं। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक कथानक के सूत्र जितने ही विरल, सूक्ष्म और अन्वितिहीन हुए हैं विषय-वस्तु उतना ही विस्तृत, सुपुष्ट और ध्वन्यात्मक हुआ है।

प्रेमचन्द की विशेषताएँ

प्रेमचन्द के लेखन काल की संक्षिप्त अवधि को, जो कि नानाविध कार्यभारों और संघर्षों से संवलित है, देखते हुए यह सहज स्वीकार्य है कि उनकी उपलब्धि सामान्य नहीं है। उन्होंने अठारह वर्षों के संक्षिप्त काल में ही कई पथों का अनुसंधान किया, उन पर कुछ दूर तक चले और फिर उतर कर दूसरी राह पकड़ते रहे। ऐसा नहीं कि उन्होंने किसी पथ-विशेष का स्पर्श भर किया वरन् जब चले तो प्रायः पथ की अन्तिम सीमा तक चले और मंजिल पर पहुंचकर अपनी उपलब्धि से संतुष्ट न होकर पुनः महतर उपलब्धि के लिये अन्य पथानुसंधान किया। 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' का जो विचार-पथ है वह संक्षिप्त नहीं है, और बहुत सरल भी नहीं है। यदि कोई दूसरा लेखक होता, तो वह आजीवन इसी पथ पर चलता रहता, फिर भी मंजिल छू नहीं पाता या छू पाने से उस क्षेत्र का विशेषज्ञ बनकर रह जाता। लेकिन प्रेमचन्द की गति कुछ इतनी तीव्र थी कि वे इन जटिल और दुरूह विचार-पथों को दो-चार डगों में ही भर लेते हैं और फिर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' के जटिल विचार-पथ और शिल्प-पथ पर सधे पांवों आगे बढ़ जाते हैं।

प्रेमचन्द का अनुकरण उनके समकालीनों और परवर्तियों के लिये इस कारण सम्भव नहीं हुआ कि उन्होंने जीवन की जिस दिशा में अपनी प्रतिभा की किरण फेंकी उसे सम्पूर्णतः आलोकित कर दिया, वहां कुछ ऐसा शेष नहीं रहा जिसे कोई दूसरा ढूंढ़े।

प्रेमचन्द के लेखन की सबसे उल्लेख्य विशेषता यह है कि उसमें चढ़ाव ही चढ़ाव है, उतार कहीं दृष्टिगत ही नहीं होता। यह सचमुच हिन्दी का दुर्भाग्य ही था कि प्रेमचन्द असमय काल कवलित हुए। यदि उनका कथाकार स्वाभाविक

मौत मरता, तो सम्भव है उनकी रचनाओं का उतार-पथ भी साहित्य की एक निश्चित लीक बनकर रहता। प्रेमचन्द जैसे विशिष्ट लेखक की रचनाओं में उतार का भी अपना महत्त्व और सौन्दर्य होता क्योंकि औसत लेखकों की तरह प्रतिभा-सम्पन्न लेखक जिस राह चढ़ते हैं उसी राह नहीं उतरते।

प्रभाव और मौलिकता

प्रेमचन्द अपने लेखन काल में कई प्रकार से प्रभावित हुए। सुधारवाद, आदर्शवाद, गांधीवाद और साम्यवाद, ये सभी उन्हें किसी न किसी रूप में छू सके। लेकिन उसका कारण यह नहीं है कि प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कमजोर है और वे विचारधाराओं के वेग में बह जाते हैं, वरन् सीधी बात इतनी-सी है कि उन तत्त्वों की संगति जब, जहां उनके जीवनगत अनुभव से बैठ जाती है तो ये उनके साहित्य में रूपाकृत हो जाते हैं। इसका सबसे पुष्ट प्रमाण यह है कि प्रेमचन्द इन तत्त्वों को जितनी तत्परता से ग्रहण करते हैं उतनी ही तत्परता और दृढ़ता से अनुपयोगी पाने पर झाड़ भी देते हैं। उपरिलिखित वादों में से जब कोई एक ही किसी लेखक के सम्पूर्ण जीवन को आच्छादित कर ले सकता है, प्रेमचन्द उनको निरखते-परखते, उनसे अपना दामन बचाकर साफ निकल आते हैं। प्रेमचन्द का अध्ययन पूर्ण कर लेने के बाद स्वभावतः ये प्रश्न उठते हैं : क्या वे आदर्शवादी हैं ? गांधीवादी हैं ? मार्क्सवादी या साम्यवादी हैं ? सुधारवादी है ? उनका उत्तर हां या ना में नहीं दिया जा सकता। यही प्रमाण है कि प्रेमचन्द ने अपनी सधी उंगलियों से इन विचारधाराओं को अत्यन्त अल्पकाल में ही नींबू की तरह निचोड़ लिया और असलियत जान ली। इसीलिये कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द का युग कई युगों का समुच्चय है।

—:०:—

देन और महत्त्व

लेखक केवल मजदूर नहीं बल्कि और कुछ है—वह विचारों का आविष्कारक और उत्तेजक और प्रचारक भी है।

—प्रेमचन्द

—चिट्ठी-पत्री २, पृ० १६६

प्रेमचन्द की महत्ता पर विचार करते समय कुछ प्रश्न सामने आते हैं—

(१) प्रेमचन्द ने छायायुग में लिखना शुरू किया जबकि गद्य की भाषा भी थोड़ा बहुत काव्यात्मक प्रभाव लिये होती थी। उस युग में रहकर भी वे इतनी साफ-सुथरी और आमफहम भाषा कैसे लिख सके ?

(२) वे उपन्यास-स्थापत्य में निष्णात थे। उदाहरण के लिए उनके पहले के उपन्यास गबन आदि लिये जा सकते हैं। फिर उन्होंने गोदान में स्थापत्य की अवहेलना क्यों की ?

(३) उर्दू में लिखते-लिखते उनकी शैली मँज गयी थी। उस मँजी शैली को छोड़कर उन्होंने हिन्दी में—जिसमें कि वे नितान्त शुद्ध-शुद्ध लिख भी नहीं सकते थे—क्यों लिखना शुरू किया ?

(४) उर्दू में उन्हें पर्याप्त ख्याति मिल चुकी थी। उर्दू में लिखकर जितने पैसे मिलते थे, हिन्दी में, समय को देखते हुए, बहुत अधिक मिलने की संभावना नहीं थी। फिर भी वे उर्दू छोड़कर हिन्दी में क्यों आये ?

इन प्रश्नों पर विचार करने से प्रेमचन्द की महत्ता आसानी से आंकी जा सकती है।

प्रेमचन्द ने साहित्य को जीवन के सत्य का वाहक कहा। छाया-युग की कोमल काव्य-भाषा से जीवन के सत्य का सम्यक् वहन नहीं हो सकता था।

वह कुछ इतनी कोमल और सुकुमार थी कि उससे यथार्थ का अंकन संभव नहीं था। प्रसाद और प्रेमचन्द उस युग के दो बड़े साहित्य-स्तम्भ हैं, किन्तु दोनों की भाषा में जमीन आसमान का अन्तर है। छायायुग की भाषा का प्रभाव तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं और लेखकों-कवियों पर स्पष्टरूपेण देखा जा सकता है। हिन्दी गद्य के समर्थ शैलीकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक पर यह प्रभाव है। किन्तु प्रेमचन्द पर यह किंचित् भी आंच नहीं ला सकी। संभव है छाया-युगीन वातावरण में रहने से प्रेमचन्द में भी भाषा के प्रति मोह रहा हो।[1] लेकिन उन्होंने शीघ्र ही इस मोह को कुचल दिया। उन्हें मुख्य रूप से जीवन के सत्य का वाहक ही बनना था।

सत्य के इस आग्रह ने उनकी भाषा को तो खूब साफ-सुथरा और आम-फहम बनाया लेकिन एक त्रुटि रह ही गयी। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में उनका आदर्शपरक दृष्टिकोण उनकी लेखनी का अंकुश बना रहा। वे समस्याओं का काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करने के लिए सचेष्ट रहे।

इस काल में उनकी दृष्टि स्थापत्य पर भी खूब जमी। फलस्वरूप 'सेवा-सदन', प्रेमाश्रम', 'निर्मला' और 'गबन' जैसी कृतियां मिली। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' जैसी कृतियां पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक जीवन के सत्य का कट्टर वाहक—जैसा कि उसे पीछे होना था—नहीं है। उसकी दृष्टि थोड़ी-बहुत

---

१. प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियों में भाषा का रूप कहीं-कहीं इस प्रकार का है—"महफिल के लोग संगीत की शराब से मखमूर हैं। जलसे के श्रीमंत अंगूरी शराब से चूर हैं। महफिल का चिराग दिल की तड़प के मारे बेकरार है, परवाना उसपर जान से निसार है। तमाम नेचर मदहोश है। दीवार भी हमातनगोश है।"
—मंगलाचरण, पृ० ३

"बिना बीवी के मर्द ऐसा है जैसे बिना रोशनी का चिराग, बिना फल का पेड़, बिना नमक का हुस्न, बिना हरियाली का चमन, बिना असर का गीत, बिना खुशबू का इत्र, बिना फूल-पत्ती का बसंत, बिना धार का हथियार, बिना पुस्तक का धर्म।"
—वही, पृ० ५६

हर बात पर है। वह सत्य के साथ-साथ समाधान भी देना चाहता है और समाधान काल्पनिक के अतिरिक्त और क्या होगा ? 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर और मायाशंकर एवं 'रंगभूमि' का विनय, कुंवर साहब और राजा महेन्द्र कुमार लेखक के आदर्शपरक दृष्टिकोण के चलते ही चित्रित किया जा सके। कटु यथार्थ को ध्यान में रखकर ऐसे पात्रों की स्थिति संदेहजनक मानी जा सकती है।

'गोदान' में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण एकदम साफ हो गया। तब उन्हें न तो काल्पनिक समाधानों में विश्वास रहा और न स्थापत्य में। स्थापत्य का निर्वाह और सत्य का चित्रण दोनों साथ-साथ संभव नहीं दीखा। इसलिये उन्होंने गोदान में जहाँ स्थापत्य की अवहेलना की वहाँ गाँव की कथा एक ओर है और शहर की कथा दूसरी ओर है। कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि गोदान के कथानक का गठन अमुक भांति होना चाहिये। यह तरीका प्रेमचन्द न जानते रहे हों, ऐसी बात नहीं। वे स्थापत्य के विश्वकर्मा थे। यदि चाहते, तो गोदान में खूब सुगठित स्थापत्य रख सकते थे। लेकिन उन्हें तो सत्य का वाहन ही अभीष्ट था। एतदर्थ उन्होंने स्थापत्य का बलिदान हो जाने दिया। जो उनके लक्ष्य को नहीं समझते, वे ही गोदान के कथानक को लेकर व्यर्थ की टीका-टिप्पणी करते हैं। सच पूछिये तो इसी बात को लेकर हम प्रेमचन्द को बहुत ऊंचा स्थान देते हैं। उनको अपने स्थापत्य का अंग-भंग कबूल था, लेकिन सत्य से एक इंच भी डिगना वे नहीं चाहते थे। 'गोदान' में सत्य और यथार्थ के प्रति जो आग्रह है यदि वही 'रंगभूमि' या 'प्रेमाश्रम' में भी होता, तो वे भी मूर्धन्य कृतियां होतीं।

गोदान में दो कथानक साथ-साथ चलते हैं। लेकिन वे एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। यदि प्रेमचन्द चाहते तो उन्हें मजे में एक सूत्र में गूंथ सकते थे। लेकिन ऐसा करना सत्य से दूर जाना होता, क्योंकि उस समय उन दोनों कथानकों के वे दोनों वर्ग अलग-अलग ही थे। वर्गों के आपसी संबंध को ध्यान में रखकर ही प्रेमचन्द ने गाँव की कथा और शहर की कथा को अलग-अलग प्रवाहित होने दिया। विशेष अवसरों पर इन दो वर्गों का सम्मिलन होता है लेकिन वह स्थायी रूप नहीं है।

उर्दू में लिखना उन्होंने इसलिये पसन्द नहीं किया कि वे हिन्दुस्तान की

जनता से आत्मीयता स्थापित करना चाहते थे। जनता की भाषा मुख्य रूप से हिन्दी ही थी और अब भी है।[२] उन्होंने इस सच्चाई का अनुभव किया था। इसलिए उन्होंने इस बड़े लक्ष्य के सामने अपनी उपलब्धियों को नगण्य समझा, एक निस्पृह योगी की भाँति सहज ही उनका बलिदान कर दिया।

उर्दू की मंजी हुई शैली छोड़कर हिन्दी में हाथ आजमाना बहुत बड़ा खतरा मोल लेना था। ऐसा करते समय दो बातों की आशंका हो सकती थी—

(१) उर्दू में प्रेमचन्द की जो विशेषता थी, पाठक हिन्दी में उसी की अपेक्षा करते। उनकी यह उम्मीद पूरी नहीं होती, कारण, उर्दू में वे मंज चुके थे, हिन्दी में उन्हें प्रयोग कर गुण हासिल करना था। इस हालत में पाठकों को उनसे असंतोष होता। यह उनके यश के लिये खतरे की बात थी।

(२) प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता होती है। यह जरूरी नहीं कि उर्दू का सफल लेखक हिन्दी में भी मैदान मार ही ले। उर्दू-साहित्य में उनकी पैठ हो चुकी थी—उसके रत्नों को वे बटोर चुके थे। हिन्दी उनके लिए अजाना समुद्र थी, जिसमें डुबकी लगाने पर क्या मिलेगा, इसका उन्हें पता नहीं था। फिर भी उन्होंने यह खतरा मोल लिया। यह दूसरी बात है कि उनका यह दुस्साहस सफल हुआ और अनेक अनमोल रत्न उनके हाथ लगे।

उर्दू की नस-नस को टटोल कर वे जान चुके थे कि वह उनके लक्ष्य के लिये उपयुक्त नहीं है। वे जो कुछ कहना चाहते थे उसे हिन्दी के माध्यम से ही कह सकते थे। अपने विषय की विराटता और विशालता को वे हिन्दी में ही सम्हाल सकते थे। सम्भवतः इसी एक बात के लिये भी उन्होंने अपनी समस्त उपलब्धियों को त्यागा।

लेखक के लिए सबसे बड़ा लोभ यश ही होता है। प्रेमचन्द को उर्दू में

---

२. प्रेमचन्द ने एक जगह कहा भी है—हिन्दी के पक्ष में इसे चाहे कोई हीनता ही समझे मैं तो इसे सौभाग्य समझता हूँ कि वह उतनी सम्पन्न की भाषा नहीं जितनी कृषक और मजदूर की है। उतनी तहजीब की भाषा नहीं जितनी नित्य जीवन की है। —विविध प्रसंग ३, पृ० ९७

पर्याप्त ख्याति मिल चुकी थी। वे उर्दू के गिने-चुने लेखकों में थे। इतनी ख्याति पाकर अज्ञातकुलशील की तरह हिन्दी के गढ़ में प्रवेश करना बहुत बड़े साहस और धैर्य का काम था। उनमें यह साहस और धैर्य पर्याप्त मात्रा में था।

लेखक काफी कोशिशों के बाद साहित्य का सम्राट् होता है। प्रेमचन्द उर्दू के सम्राट् थे। लेकिन उस पद का उन्हें कुछ भी मोह नहीं रहा। उन्होंने आसानी से अपने को रंक हो जाने दिया। उन्हें अपनी प्रतिभा और शक्ति पर विश्वास था। वे जानते थे कि यदि आस्थापूर्वक प्रयत्न किया जाय, तो फिर सम्राट् के पद पर पहुँचा जा सकता है। बात हुई भी ऐसी ही। वे अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से शीघ्र ही हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् बने।

हिन्दी में लिखने का एक कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे अधिक पाठकों तक पहुँचकर अधिक द्रव्य प्राप्त करना चाहते थे। लेकिन यह बात उनके दिमाग में कम ही होगी। वह हिन्दी की प्रारम्भिक स्थिति थी। रचनाओं से उचित द्रव्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। जिस समय उन्होंने लिखना शुरू किया उस समय उनकी ख्याति सामान्य ही थी। अतः यह उम्मीद करना कि अधिक द्रव्य की प्राप्ति होगी, निराधार है।

लेकिन इन सब कारणों के बावजूद उन्होंने हिन्दी में लिखा। लिखा इसलिये कि उन्हें हिन्दुस्तान का चित्र उपस्थित करना था, साहित्य में एक क्रांतिकारी आदर्श स्थापित करना था। वे अपने कार्य में बहुत दूर तक सफल हुए।

प्रेमचन्द के पूर्व का हिन्दी कथा-साहित्य ऐतिहासिक अनुक्रम में जितना भी उल्लेख्य हो लेकिन तात्विक दृष्टि से औसत कोटि का ही है। भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी युग तक हिन्दी कथा-साहित्य का विकास हुआ सही, लेकिन उनके बीच से होकर कोई ऐसा धरातल नहीं उभरा जिस पर खड़े होकर विश्व-साहित्य से समकक्षता प्राप्त करने का साहस किया जाता। सबसे पहले प्रेमचन्द ने ही हमें वह जमीन दी जिस पर 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' जैसे उपन्यास-प्रासादों की रचना सम्भव हुई। उस भूमि पर खड़े होकर हमने अन्य भारतीय भाषाओं के कथा-साहित्य की तुलना में अपने को गौरवपूर्ण स्थिति में पाया और विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में अपने कथा-साहित्य को देखने का साहस किया।

प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये। हिन्दी कथा-साहित्य के लिए यह एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना है। यदि प्रेमचन्द उर्दू के लेखक न होकर मूलतः हिन्दी के ही लेखक होते तो सम्भवतः हिन्दी कथा-साहित्य को न तो वह दिशा मिलती और न वह जमीन जो प्रेमचन्द इसलिये दे सके कि वह उर्दू से आये। जिस प्रकार वनस्पति-जगत में कलम लगाने की प्रथा है और उससे वृक्षों की नई कोटियाँ विकसित होती हैं उसी प्रकार साहित्य में भी दूसरे-दूसरे साहित्य और साहित्यकारों के आदान-प्रदान से शैली-शिल्प और भाव-सम्पदा का विकास होता है।

प्रारम्भिक हिन्दी कथा-साहित्य का विकास जिन लोगों के हाथों हुआ—चाहे वे भारतेन्दु युग के कथाकार हों या द्विवेदी युग के—वे नवीन भाव-बोध से घनिष्ठ रूपेण परिचित नहीं थे। उनमें बहुत कुछ प्राचीन संस्कारों की प्रधानता थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट से लेकर देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी तक के बारे में यह बात सही है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि हिन्दी के ये कथाकार हिन्दी की परम्परा के साथ-साथ संस्कृत की विशाल कथा-परम्परा से भी स्वभावतया परिचित थे (इस समय तक अंग्रेजी-साहित्य की जड़ें भारतीय जीवन में उतनी गहरे नहीं गई थीं)। उर्दू वालों को यह सुविधा इतनी अधिक नहीं थी। उनका अरबी और फारसी से दूर का ही सरोकार था। अरब और फारस की ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित भाषा का उनकी भाषा उर्दू से उतना मेल नहीं था जितना कि हिन्दी का संस्कृत से। उर्दू तो एक तरह से हिन्दी की ही एक शैली थी जिसमें स्थान-स्थान पर भारतीय नामों, स्थानों और परम्पराओं का उल्लेख था। इसीलिए उर्दू वालों पर परम्परा का बन्धन उतना कठोर नहीं था जितना कि हिन्दी वालों पर। फिर यह भी एक आकस्मिक संयोग ही रहा कि हिन्दी के जितने भी प्रारम्भिक कथाकार हुए उनका व्यावहारिक जीवन कुछ ऐसा रहा कि वे नवीन भाव-बोध और अंग्रेजी रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा के सम्पर्क में उतने घनिष्ठ रूप से नहीं आ सके। भारतेन्दु युगीन लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो रईस

और जमीनदार थे ही उनके मंडल के जो अन्य लेखक थे वे भी उन्हीं की संगति में पलने वाले और विकसित होने वाले थे।[३] यहाँ तक कि द्विवेदी युगीन लेखक देवकीनन्दन खत्री भी आधुनिक किस्म की सरकारी नौकरी में न होकर जमींदार के पुराने ढंग की नौकरी करते थे या ठेकेदार थे।

उर्दू के उपन्यासकारों के साथ यह बात नहीं है। उर्दू के प्रथम उपन्यासकार नजीर अहमद दो वर्ष शिक्षक रहने के बाद ही डिप्टी इन्सपेक्टर आॅफ स्कूल्स हो गये। इसके बाद ये सरकारी नौकरी में आये और कानपुर के तहसीलदार रहने के बाद डिप्टी कलक्टर हो गये। उर्दू के एक दूसरे उपन्यासकार मौलाना शरर तो इंगलैण्ड से भी हो आये थे और उन्होंने फ्रेंच भाषा और साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। मिर्जा रुसवा ने रेलवे की सरकारी नौकरी की थी, मिशन स्कूल में शिक्षक रहे थे और अन्त में बी० ए० करने के बाद अमरीका की ओरयण्टल यूनिवर्सिटी से पी-एच० डी० की डिग्री ली थी। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन हिन्दी लेखकों की तुलना में इनका जीवन कुछ अधिक आधुनिक था। ये सभी लेखक उर्दू और फारसी की साहित्य परम्परा से परिचित तो थे, उन्हें इनकी शिक्षा भी मिली थी लेकिन इनपर अरबी और फारसी का वैसा संस्कार और अंकुश नहीं था जैसा कि हिन्दी लेखकों पर संस्कृत का। हिन्दी के जो लेखक आधुनिक जीवन के निकट थे और अंग्रेजी साहित्य से परिचित भी थे वे भी प्राचीवता के संस्कारों से मुक्त नहीं थे। यह बात लाला श्रीनिवास में बखूबी देखी जा सकती है। एक तरफ तो वे अपने उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में स्पेक्टेटर लार्ड बेकिन, गोल्ड स्मिथ, विलियम कूपर, शेक्सपियर आदि की पंक्तियों के उद्धरण देते हैं दूसरी ओर रामायण, महाभारत, विदुर-

---

३. लाला श्रीनिवासदास जैसे एकाध लेखक अवश्य ऐसे थे जिनका अंग्रेजी भाषा साहित्य और रहन-सहन से सरोकार था लेकिन स्वयं उनका जीवन भिन्न संस्कारों और परम्पराओं से बंधा था। महाजनी करते हुए वे अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क में आए थे और 'परीक्षा गुरु' जैसा उपन्यास प्रस्तुत कर सके थे लेकिन उसमें भी भारतीय संस्कार ही अधिक प्रमुख हैं।

नीति, हितोपदेश, मनुस्मृति और गुलिस्ताँ आदि की पंक्तियों का भी हवाला देते हैं। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा से परिचित होकर भी वे प्राचीन संस्कारों को अपने ऊपर से हटा नहीं सके थे। इसलिए उनके साहित्य में प्राचीनता के चिह्न प्रभूत मात्रा में हैं। 'परीक्षा गुरु' नई चाल की पुस्तक होकर भी पुरानी चाल का थोड़ा बहुत अन्दाज लिये हुए है।

यदि इन्हीं लेखकों की भाँति प्रेमचन्द भी हिन्दी के ही लेखक होते तो पुरानी भारतीय कथा-परम्परा से अपरिचित नहीं रहते। इन्हें बचपन से पुस्तकें पढ़ने की जैसी हविश थी कि वे संस्कृत के कथाकारों की रचनाओं का मूल या अनुवाद अवश्य ही पढ़ जाते। फिर तो उनका संस्कार उन्हीं के अनुकूल बनता या बिगड़ता। प्रेमचन्द ने यह स्वीकार किया है कि जब वे कच्ची उम्र के थे तब उन पर उर्दू के कथाकारों सरशार, शरीर, रुसवा आदि का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। फिर प्रेमचन्द पर हिन्दी और संस्कृत के कथाकारों का प्रभाव नहीं पड़ता, यह कौन कह सकता है। इसलिये यह मानना जायज ही है कि उर्दू से हिन्दी में आने के कारण ही प्रेमचन्द वह जौहर दिखा सके जिस पर दुनिया रीझी।

हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारों में श्रीधर पाठक और अयोध्याप्रसाद सिंह 'उपाध्याय' तक पर पुराने संस्कारों की गहरी छाप है। यह सत्य है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में नवीनता का समावेश किया। काव्य की उपेक्षिताओं की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया, सरस्वती में नये ढंग की कहानियाँ प्रकाशित कीं लेकिन फिर भी हिन्दी कथा-साहित्य को गति नहीं दे सके और न उसके रूप का परिष्कार कर सके। इसका कारण सम्भवतः यह था कि वे आधुनिक सभ्यता की जटिलता और उसे सफलतापूर्वक व्यक्त करने वाले गद्य के दायित्वों से भली-भाँति परिचित नहीं थे। उस काल के जो अन्य लेखक और आलोचक थे जैसे बाबू श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वे अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा आधुनिक भाव-बोध के अधिक निकट तो थे, पर इनके साथ कठिनाई यह थी कि उनमें कथाकार की प्रतिभा न थी। इसलिये यह काम प्रेमचन्द के जिम्मे पड़ा। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी कथा-साहित्य के लिये प्रेमचन्द का कितना महत्त्व है।

प्रेमचन्द ने शुरू से ही वैसी शिक्षा पायी थी जिसे हम अंग्रेजी शिक्षा कहते हैं। प्रेमचन्द के समय तक पुराना भारतीय सामंतवाद ढह चुका था। उसके स्थान पर नयी महाजनी सभ्यता पाँव जमा चुकी थी। प्रेमचन्द निम्न मध्य-वर्ग के थे। जीवन जीने के क्रम में विभिन्न प्रकार के कटु संघर्षों का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। ऐसा कठिन जीवन पहले के एकाध लेखक भी जी चुके थे लेकिन उन सबकी मनोवृति आधुनिक न होकर प्राचीनता की ओर झुकी थी। यह इस बात से स्पष्ट है कि जहाँ हिन्दी के पुराने लेखकों ने धर्म-कर्म, पूजा-पाठ ईश्वरादि को उचित महत्ता दी वहाँ प्रेमचन्द ने इन सबको एक सिरे से अस्वीकार किया। इस बात को लेकर उनके समकालीन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी उनसे पीछे थे। यह ठीक है कि शुक्लजी का आधुनिक अंग्रेजी साहित्य से परिचय था लेकिन वे प्रशंसक वड्सॅवर्थ और शेली के न होकर सूर और तुलसी के थे। समाज व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म को आवश्यक मानते थे। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में वर्णाश्रम प्रथा और संयुक्त परिवार आदि की तीखी आलोचना की है और उन्हें टूटते हुए चित्रित किया है। शुक्लजी जहाँ 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद करते थे वहाँ प्रेमचन्द गालसवर्दी के नाटकों और अनातोले फ्राँस और जार्ज इलियट के उपन्यासों का। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में छायावादियों की तरह कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ही आधुनिक दृष्टि को लेकर अवतरित हुए। पूँजीवादी सभ्यता से गठबन्धन करके औद्योगिक सभ्यता को अपना प्रभाव प्रसार करते हुए उन्होंने ही देखा। यह अधुनातन भाव-बोध न केवल प्रेमचन्द के उपन्यासों के वर्ण्य-विषय से वरन् उनके शैली-शिल्प से भी स्पष्ट होता है। उनका 'सेवासदन' कथानक की दृष्टि से एक अत्यन्त सुगठित उपन्यास है लेकिन इसके बाद ही वे 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' जैसे उपन्यासों की रचना करते हैं जिनके शिल्प को उनके समकालीन आलोचकों ने अनुपयुक्त बताया।

जिस प्रकार पंत, प्रसाद और निराला ने आधुनिक हिन्दी-काव्य में नवीन दृष्टि का समावेश किया उसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी आधुनिक कथा-साहित्य को नवीन दृष्टि और भंगिमा दी। यदि हिन्दी में प्रेमचन्द का आगमन न हुआ होता

तो पता नहीं कब तक हिन्दी कथा-साहित्य तिलस्म, ऐय्यारी, प्रेम और भावुकता-प्रधान उपन्यासों के घेरे में चक्कर काटता रहता। यह बात इससे भी सिद्ध है कि प्रेमचन्द के समकालीन प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि लेखक भी ऐसे आधुनिक भाव-बोध से सम्पन्न नहीं थे। जिस प्रकार तिलस्म और ऐय्यारी-प्रधान उपन्यासों में लखलखा सुँघाकर पात्रों को बेहोश कर दिया जाता है उसी प्रकार प्रतापनारायण श्रीवास्तव के खलपात्र भी उपन्यास की नायिकाओं पर अजीबो-गरीब औषधियों का प्रयोग करते हैं और उन्हें बेभान कर उनके साथ मनमाना भोग-विलास करते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' का भी उल्लेख किया जा सकता है। पर प्रेमचन्द में जो आधुनिकता है उसकी तुलना में कायाकल्प का अतिकाल्पनिक अंश नगण्य-सा प्रतीत होता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि प्रेमचन्द का भाव-बोध पर्याप्त विकसित न होता तो पता नहीं वे कितने कायाकल्पों की रचना करते।

विशाल भारतीय समाज के चितेरे

वास्तव में गल्प के सिवा और किसी प्रकार के लेखों में यह गुण नहीं है कि वह अव्यक्त, अदृश्य और अलक्षित रूप से समाज में नवीन भावों, सिद्धान्तों और तत्त्वों का प्रचार कर सके।

—प्रेमचन्द

—विविध प्रसंग ३, पृ० ३९

वर्गों का आनुपातिक चित्रण

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे मुख्यतः निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के कथाकार हैं।[1] यह बात है भी सही। उन्होंने मुख्यतः समाज के इन्हीं दोनों वर्गों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। तो फिर प्रश्न उठता है कि वे सम्पूर्ण समाज के चितेरे क्योंकर हुए? इस प्रश्न का उत्तर हमें ढूंढ़ना होगा।

समाज साधारणतः तीन वर्गों में बंटा हुआ बताया गया है—उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग। लेकिन महत्त्व की दृष्टि से वर्गों का यह क्रम उलट देना होगा अर्थात् तब निम्नवर्ग सबसे पहले आयेगा और अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगा। यही वर्ग समाज रूपी शरीर की नस है, जिससे होकर शुद्ध और उष्ण रक्त समाज के शरीर में दौड़ता है और उसमें जीवन की लाली और उष्णता कायम रहती है। यदि श्रम करने वाला यह वर्ग नहीं हो, तो समाज पांडु रोग से पीड़ित हो जायेगा। भारतीय समाज में निम्न-वर्ग के इस महत्त्व को ध्यान में रखकर ही महात्मा गांधी या अन्य राजनीतिक नेताओं ने इसे अपना सर्वप्रमुख लक्ष्य बनाया था। यह निम्नवर्ग अधिकांश में

---

(१) द्रष्टव्य डॉ० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक—"प्रेमचन्द : एक विवेचन"।

देहातों में रहकर कृषि और शारीरिक श्रम पर निर्भर करने वाला है और अल्पांश में शहरों में रहता है और कल-कारखानों में काम करके या अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम पर जीता है। अतः इसके संसर्ग में आने के लिये प्रथमतः देहातों की ओर जाना होगा।

भारतीय समाज में निम्नवर्ग का महत्त्व असंदिग्ध है, किन्तु अज्ञान और अशिक्षा के कारण समाज के पुनर्निर्माण की भूमिका में अवतरित होने में यह वर्ग अपने-आपको असमर्थ पाता है। आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी उनकी स्थिति में बहुत अंतर नहीं आया है। फिर प्रेमचन्द के समय तक तो इसकी स्थिति और भी दयनीय थी। इसलिये समाज के पुनर्निर्माण का दायित्व पूर्णतः इस वर्ग पर नहीं छोड़ा जा सकता था। इसके लिये मध्यवर्ग को साथ लेना आवश्यक था।

मध्यवर्ग वर्ग की दृष्टि से कोई शाश्वत वर्ग नहीं है, ऐसा कुछ समाज-शास्त्रियों ने माना है। उनके अनुसार मध्यवर्ग के दो भेद किये गये हैं—उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग। उच्च मध्यवर्ग प्रायः उच्चवर्ग के मनोभावों से सम्बन्धित रहता है। यह वर्ग इस चेष्टा में रहता है कि अपने वर्ग को परिवर्तित कर उच्चवर्ग में मिल जाये। इसके लिये वह अनेकानेक तिकड़मों, झूठ, फरेब और चापलूसियों का सहारा लेता है। उसका यह उपयोग कभी-कभी सफल भी हो जाता है और वह उच्चवर्ग में मिल जाता है। यदि किन्हीं विवशताओं के कारण उच्चवर्ग में नहीं मिल पाता, तो उस क्रम में अपने वर्ग से टूट कर अलग जा पड़ता है और उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के बीच त्रिशंकु की भांति स्थित रहता है।

मध्यवर्ग का दूसरा हिस्सा, जिसे निम्न मध्यवर्ग कहा गया है, अन्ततः निम्नवर्ग का हिस्सा ही प्रमाणित होता है। यह वर्ग ऊपर उठकर अपने वर्ग को परिवर्तित करने में अपने को नितान्त असमर्थ पाता है। निम्न मध्यवर्ग का सदस्य रहते हुए उसे अनेकानेक कुंठाओं, वर्जनाओं और आपदाओं का सामना करना पड़ता है। बौद्धिक और पढ़ा-लिखा होने के कारण वह शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये बाध्य होता है कि जीवन की सार्थकता और सफलता

प्राप्त करने के लिये मध्यवर्ग के प्रति मन में पलने वाले झूठे मोह को जीतना होगा और निम्नवर्ग के धरातल को स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसलिये कुछ समाज-शास्त्रियों द्वारा प्रायः ऐसा माना गया है कि कालान्तर में मध्यवर्ग के दोनों भाग उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग क्रमशः उच्चवर्ग और निम्नवर्ग में मिल जाते हैं और फिर वर्ग के रूप में मध्यवर्ग की स्थिति इतिहास की वस्तु हो जाती है ।

लेकिन इतना होते हुए भी यह सही है कि प्रत्येक समाज में एक समय ऐसा होता है जब मध्यवर्ग की ऐतिहासिक आवश्यकता होती है। ऐसे समय में मध्यवर्ग एक ऐतिहासिक भूमिका में अवतरित होता है और उसका निर्वाह करता है। यह स्थिति प्रायः वह होती है जब निम्नवर्ग सामाजिक चेतना की दृष्टि से कुछ पिछड़ा हुआ होता है। इस अवसर पर मध्यवर्ग आगे आकर नेतृत्व की बागडोर सम्भालता है और निम्नवर्ग के सहयोग से सामाजिक पुनर्निर्माण के पथ पर आगे बढ़ता है। लेकिन जैसा कि मध्यवर्ग का स्वभाव है यह प्रगतिशील या क्रांतिकारी भूमिका के निर्वाह में सदासर्वदा सफल नहीं होता, क्योंकि इसके अपने पूर्वग्रह, कुंठाएं और विवशताएं होती हैं। इसलिये यह पीछे चलकर सामाजिक पुनर्निर्माण के उत्तरदायित्वों और संघर्षों से कतराने लगता है। यहीं पर आकर इसकी ऐतिहासिक आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इस समय तक निम्नवर्ग सजग और सचेत हो चुकता है और इसलिये आगे बढ़कर नेतृत्व की बागडोर अपने हाथों सम्भाल लेता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज में निम्नवर्ग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वही आगे आने वाले समाज का नियामक है। इसके बाद मध्यवर्ग का स्थान आता है क्योंकि समाज की दशा को तब्दील करने में एक समय उसकी आवश्यकता होती है। लेकिन समाज का तीसरा वर्ग, जिसे उच्चवर्ग कहा गया है, उसकी सामाजिक दृष्टि से कोई स्पष्ट उपयोगिता नहीं होती। न केवल अनुपात की दृष्टि से वरन् महत्त्व की दृष्टि से भी वह समाज का बहुत नगण्य अंश है। इसलिये समाज के ऐसे अध्येताओं के लिये, जो समाज के भविष्यत् रूप पर ध्यान केन्द्रित रखते हैं, उसका महत्त्व नहीं होता। यदि उस

वर्ग का चित्रण अभीष्ट भी हो तो वह अधिक-से-अधिक एक पतनशील वर्ग के रूप में ही चित्रित होगा। समाज के ढहते हुए रूप के परिचय के क्रम में ही उसका उल्लेख होगा।

प्रेमचन्द विशाल भारतीय समाज के कुशल चितेरे अवश्य कहे जा सकते हैं। जब हम ऐसा कहते हैं तो इसका तात्पर्य है कि वे उन वर्गों के समर्थ कलाकार हैं जो समाज के सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग हैं। न केवल अनुपात की दृष्टि से, वरन् महत्त्व की दृष्टि से निम्नवर्ग और मध्यवर्ग समाज का आधार-स्तम्भ है। लेकिन इन आधार-स्तम्भों का सम्बन्ध उस पुरानी छत से भी है, जो टूटने वाली है, जिसकी कड़ियां जर्जर हो उठीं हैं, जिसे उच्चवर्ग कहा जाता है। सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से अब उच्चवर्ग का अपने आप में कोई महत्त्व है नहीं, लेकिन समाज के बाकी दो वर्गों के बनने और बिगड़ने में उच्चवर्ग का बड़ा हाथ है। इस दृष्टि से उसका महत्त्व हो जाता है। इसलिये कुशल कथाकार निम्न-वर्ग और मध्यवर्ग को अपना लक्ष्य बनाकर भी उच्चवर्ग की ओर से आंखें नहीं मूंद पाता। जिस प्रकार निम्नवर्ग भविष्य की सच्चाई है और कोई उसे झुठला नहीं सकता उसी प्रकार उच्चवर्ग अतीत की सच्चाई है और उसे झुठलाकर सामाजिक इतिहास की रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की जा सकती। लेकिन सामा-जिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के क्रम में उच्चवर्ग का उल्लेख प्रसंगवश ही होता है। वे मूल प्रसंग नहीं होते वरन् मूल प्रसंगों से किसी न किसी भांति सम्बन्धित होने के कारण ही उल्लेखनीय होते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में उच्चवर्ग का चित्रण नहीं है, ऐसा नहीं है। उनके सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में कुछ न कुछ उच्चवर्गीय चरित्र आते हैं। प्रेमाश्रम, कायाकल्प, रंगभूमि, गोदान आदि उपन्यासों में कितने ही उच्चवर्गीय चरित्र सामने आते हैं और उनकी जीवन-प्रणाली का परिचय मिलता है। लेकिन इन सबका चित्रण इस रूप में हुआ है कि ये ढहते हुए खंडहर की याद दिलाते हैं। चाहे गोदान के रायसाहब अमरपाल सिंह हों या राजा साहब दिग्विजय सिंह या रानी मीनाक्षी या कायाकल्प के राजा विशाल सिंह या रानी देवप्रिया या प्रेमाश्रम के ज्ञानशंकर या प्रभाशंकर या कमलानन्द या गायत्री—ये सभी एक ढहती हुई

व्यवस्था के जर्जर प्रतिनिधि हैं। प्रेमचन्द इन पात्रों के ब्याज से ढहते हुए खंड-हरों पर अपनी कला की चांदनी नहीं छिटकाते, जिससे कि ये जादुई सम्मोहन से भर उठें। वे तो अपने कला-विवेक की तीखी रोशनी से इन खंडहरों को उनके वास्तविक रूप में उपस्थित कर देते हैं। इस प्रकार हम जान जाते हैं कि इनके जीवन की एक-एक ईंट बिखरी हुई हैं, पलस्तर टूट गया है। ये सभी उच्चवर्गीय पात्र एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। ये उच्चवर्ग के चरित्र होकर भी एक अदना से अदना पाठक या पात्र की दृष्टि में भी दयनीय ही ठहरते हैं। एक स्थान पर होरी ने ठीक ही कहा है—"हम लोग समझते हैं बड़े आदमी बहुत सुखी होंगे लेकिन सच पूछो तो वह हम से भी ज्यादा दुखी हैं। हमें अपने पेट की ही चिन्ता है, उन्हें हजारों चिन्ताएं घेरे रहती हैं।" गोबर के द्वारा यह कहने पर कि "यह सब धूर्तता है, निरी मोट मरदी। जिसे दुख होता है वह दर्जनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता, और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, इस पर दुखी है।" होरी इस पर झुंझला कर कहता है—"अब तुम से बहस कौन करे भाई। जैजात किसी से छोड़ी जाती है कि वही छोड़ देंगे। हमीं को खेती से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपये महीने का भी नौकर है वह भी हमसे अच्छा खाता-पहनता है, लेकिन खेतों को छोड़ा नहीं जाता। खेती छोड़ दें तो और करें क्या? नौकरी कहां मिलती है, फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है वह नौकरी में तो नहीं है। इसी तरह जमींदारों का हाल भी समझ लो। उनकी जान को भी तो सैकड़ों रोग लगे हुए हैं, हाकिमों को रसद पहुँचाओ, उनकी सलामी करो, अमलों को खुश करो। तारीख पर मालगुजारी न चुका दें तो हवालत हो जाय, कुड़की आ जाय। हमें तो कोई हवालत नहीं ले जाता। दो-चार गालियां घुड़कियां ही तो मिलकर रह जाती हैं।"

निम्नवर्ग और मध्यवर्ग कितना ही विपन्न हो, वह इतना खोखला नहीं है और न उसका जीवन ऐसा है कि कोई उस पर दया दिखा सके। चाहे प्रेमाश्रम का मनोहर या उसका पुत्र बलराज हो या बलराज की मां विलासी या सुखू

चौधरी, दुखहरण या कादिर मियां—ये आर्थिक दृष्टि से विपन्न भले ही हों, लेकिन इनमें चारित्रिक विपन्नता नहीं है। यही बात कमोवेश मध्यवर्ग के बारे में भी कही जा सकती है। यह ठीक है कि मध्यवर्ग के पात्रों में गबन के रमानाथ या दयानाथ जैसे दयनीय पात्र भी हैं लेकिन वे भी उस सीमा तक गये बीते नहीं हैं, जिस सीमा तक प्रेमाश्रम का ज्ञानशंकर या कायाकल्प का राजा विशाल सिंह। अनेक असंगतियों और त्रुटियों के रहते हुए भी मध्यवर्ग का एक निश्चित व्यक्तित्व उभरता है। उसमें 'प्रतिज्ञा' के अमृतराय, 'सेवासदन' का सदन सिंह, 'रंगभूमि' की सोफिया, 'कायाकल्प' के चक्रधर, 'गबन' की जालपा और 'मंगल सूत्र' के देवकुमार और साधुकुमार जैसे चरित्र भी हैं। उच्चवर्ग में ऐसे चरित्र मुश्किल से मिलेंगे। एक प्रेमाश्रम का मायाशंकर है। उसके चरित्र गठन का श्रेय भी प्रेमशंकर को है, जो उच्चवर्ग का सदस्य होते हुए भी मनोभावों और जीने के ढंग से निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के बीच है। विवेचन के इस सन्दर्भ में उच्चवर्ग के अधिकांश पात्र सचमुच ही दया के भिखारी सिद्ध होते हैं। प्रेमाश्रम के प्रभाशंकर को लीजिये। उनसे अधिक दयनीय कौन होगा। यही हालत उनके भतीजे ज्ञानशंकर की है। ऐसे ही पात्र हैं गोदान के राजा दिग्विजय सिंह या कायाकल्प के राजा विशाल सिंह। लेकिन उन्हें पाठकों या अन्य पात्रों के द्वारा दया भी नहीं मिलती, क्योंकि ये दया के योग्य भी तो नहीं हैं। उच्चवर्ग का यही रूप सत्य है। प्रेमचन्द ने इस वर्ग के इस रूप पर अपनी कला-कृतियों के माध्यम से तीखी रोशनी डाली है।

उच्चवर्ग के बाद मध्यवर्ग प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे अधिक स्थान घेरता है। इसका कारण भी है। मैंने पहले ही कहा है कि समाज के जीवन में एक स्थिति ऐसी होती है कि मध्यवर्ग को अनिवार्य ऐतिहासिक भूमिका में अवतरित होना पड़ता है। प्रेमचन्द-युग, या राजनीतिक शब्दावली में कहें, तो गांधी-युग, एक ऐसा ही युग है। उस समय एक विशाल भारतीय जनता, जो निम्नवर्ग के घेरे में रहनेवाली है, बहुत सचेत नहीं हो पायी थी। उसने समाज की दुर्दशा का अनुभव तो किया था और उसका निराकरण भी चाहती थी, लेकिन स्वयं नेतृत्व का झंडा लेकर संघर्ष को आगे बढ़ाने में असमर्थ थी। उसे अपेक्षा

थी किसी ऐसे नेतृत्व की, जो आगे-आगे चले और वह पूरे जोश-खरोश के साथ उसका अनुसरण करे। गांधी-युग में मध्यवर्ग ने इसी ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की थी। इसी रूप में तत्कालीन समाज में मध्यवर्ग का महत्त्व आंका जा सकता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग को इसी रूप में प्रस्तुत किया है। लेकिन जैसा कि मैं पहले ही स्वीकार कर चुका हूं मध्यवर्ग अनेक विषमताओं और कुंठाओं का पुंज है और लाख प्रगतिशील भूमिका में अवतरित होने पर भी उसके स्वभाव की त्रुटियां नहीं मिट पातीं; सो हर दिशा, हर क्षेत्र और हर कार्य में इसकी एक सीमा-रेखा बन जाती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग के इस रूप को भी पूरी निर्ममता के साथ उजागर किया है। एक ओर तो मध्यवर्ग एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में राष्ट्र और समाज की पुनर्रचना में व्यस्त दिखाया गया है; दूसरी ओर यह घूस लेता है, गबन करता है, भाइयों का गला काटता है, लम्बी-चौड़ी डींगे हांकता है, मुखबिरी और दलाली करता है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग के दोनों ही रूपों को उजागर करके सामने रखा है और यह स्पष्ट कर दिया है कि उस वर्ग में जो मक्कारी, धूर्तता और खुदगर्जी है वे ही वे तत्त्व हैं जो इसे प्रगतिशील भूमिका के निर्वाह के अयोग्य सिद्ध करते हैं।

यदि प्रेमचन्द के उपन्यासों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द का विश्वास एक मात्र निम्नवर्ग पर ही था। मध्यवर्ग को उन्होंने तभी तक सराहा है जब तक वह प्रगतिशील भूमिका के निर्वाह में यत्नपूर्वक लगा रहता है। लेकिन जहां उसका वर्ग-स्वभाव स्पष्ट होने लगता है, प्रेमचन्द उससे बिदक जाते हैं और अपने निम्नवर्गीय पात्रों के व्याज से उन पर व्यंग्य-वाणों की बौछार करवाने लगते हैं। उदाहरण के लिये कायाकल्प की एक घटना ली जा सकती है। जब चक्रधर जेल में थे, तो उनकी मित्रता धन्नासिंह से हो गई थी। धन्नासिंह चक्रधर के आदर्श चरित्र से बहुत प्रभावित हुआ था। लेकिन वही चक्रधर जब जेल से छूटने पर रियासत में रहने लगते हैं और एक रियासत घूमने के क्रम में जब किसी सांड़ के द्वारा उनकी मोटर क्षतिग्रस्त कर दी जाती है, तो वे पास के गांव के ग्रामीणों के पास जाते हैं और उन्हें मोटर उठा देने

के लिये कहते है। संध्या हो गई है इसलिये गांव वाले कहते हैं—"सरकार भला रात को मोटर उठाकर क्या कीजियेगा वह चलने लायक होगी तो नहीं। रात भर यहीं ठहरें, सवेरे चलेंगे, न चलने लायक होगी तो गाड़ी पर लादकर पहुँचा देंगे।" लेकिन चक्रधर गांववालों की बात पर कोई ध्यान नहीं देते और रियासती अकड़ में आकर कहते हैं—"कैसी बातें करते हो जी। मैं रात भर यहां पड़ा रहूँगा। तुम लोगों को इसी वक्त चलना होगा।" इस पर गांव वाले पिनक जाते हैं। वे सभी जाति के ठाकुर थे और ठाकुर से सहायता के नाम से जो काम चाहे ले लो, बेगार के नाम से उनकी त्योरियां बदल जाती हैं। किसान ने कहा—"साहब इस वक्त तो हमारा जाना न होगा। अगर बेगार चाहते हो, तो वह उत्तर की ओर दूसरा गांव है, वहां चले जाइये। बहुत चमार मिल जायेंगे।" इस बात पर चक्रधर को बहुत क्रोध आ जाता है और वे किसानों को डराने-धमकाने लगते हैं। इस पर किसान भी उत्तर देते हैं। अब चक्रधर से जब्त न हो सका। छड़ी हाथ में थी ही। वह बाज की तरह किसान पर टूट पड़े और एक धक्का देकर कहा—"चलता है या जमाऊं दो-चार हाथ? तुम लात के आदमी बात से क्यों मानने लगे?" सहसा सामनेवाले घर में से एक आदमी लालटेन लिये बाहर निकल आया और चक्रधर को देखकर बोला—"अरे भगत जी, तुमने यह वेष कब से धारण किया? मुझे पहचानते हो? हम भी तुम्हारे साथ जेहल में थे।" चक्रधर का क्रोध हवा हो गया। लजाते हुए बोले—"क्या तुम्हारा घर इसी गांव में है?" इसपर धन्नासिंह कहता है—"हां साहब, वह आदमी जिसे आप ठोकरें मार रहे थे मेरा सगा भाई है। खाना खा रहा था। खाना छोड़कर जब तक उठूं तब तक तो तुम गरमा ही गये। तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया? जेहल में तो तुम दया और धरम के देवता बने हुए थे। क्या दिखावा ही दिखावा था? निकला तो था कुछ और सोचकर मगर तुम अपने पुराने साथी निकले। कहां तो दारोगा को बचाने के लिये अपनी छाती पर संगीन रोक ली थी, कहां आज जरा-सी बात पर इतने तेज पड़ गये।"

यदि प्रेमचन्द के समय का निम्नवर्ग सर्वसमर्थ होता तो, वे मध्यवर्ग की ओर झांक भर लेते। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द ने बहुधा निम्नवर्ग और मध्यवर्ग

का तुलनात्मक अध्ययन भी उपस्थित किया है और हमारे सामने यह निष्कर्ष पूर्णत: प्रकाशित कर दिया है कि मानवीय गुणों की दृष्टि से निम्नवर्ग मध्यवर्ग की अपेक्षा लाख दर्जा अच्छा है। उदाहरण के लिये आप 'गबन' से रमानाथ और देवीदीन खटिक या उसकी पत्नी या वेश्या जोहरा को ले सकते हैं। रमानाथ एक मध्यवर्गीय पात्र है और इस वर्ग के सारे दुर्गुण उसमें देखे जा सकते हैं। वह पुलिस के झांसे में आकर अपने लाभ के लिये मुखबिरी करने को प्रस्तुत हो जाता है। इस पर देवीदीन उपेक्षा से कहता है—"अच्छा, तो यह कहो मुखबिर बन गये। यह बात है। इसमें तो जो पुलिस सिखायेगी वही तुम्हें कहना पड़ेगा भैया। मैं छोटी समझ का आदमी हूं, इन बातों का मरम क्या जानूं, पर मुखबिर बनने को कहा जाता, तो मैं न बनता, चाहे कोई लाख रुपया देता। बाहर के आदमी को क्या मालूम कि कौन अपराधी है, कौन बेकसूर है। दो-चार अपराधियों के साथ दो-चार बेकसूर भी जरूर होंगे।" देवीदीन लगे हाथों दारोगा से कहता है—"इससे तो यही अच्छा है कि आप इनका चालान कर दें। साल दो साल जेहल ही तो होगा। एक अधरम के डंड से बचने के लिये बेगुनाहों का खून तो सिर पर न चढ़ेगा।" रमा की मुखबिरी के लिये देवीदीन के मन में कितनी गहरी घृणा और उपेक्षा है, यह इन पंक्तियों से स्पष्ट है। ऐसी ही उपेक्षा और घृणा रमानाथ के प्रति जंगली के मन में भी है। जिस आम के बाग का जंगली ने ठेका लिया है उसी के समीप वाले बंगले में रमानाथ पुलिस के द्वारा ठहराया गया है। अवसर पाकर जंगली देवीदीन से कहता है—"इसमें वही मुखबिर टिका हुआ था। आज सब चले गये हैं। सुनते हैं पन्द्रह-बीस दिन में आयेंगे, जब फिर हाईकोर्ट में मुकदमा पेश होगा। पढ़े-लिखे आदमी भी ऐसे दगाबाज होते हैं। दादा, सरासर झूठी गवाही दी। न जाने इसके बाल-बच्चे हैं या नहीं, भगवान से भी नहीं डरा।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द को मध्यवर्ग के ऐसे स्वार्थी और कमजोर पात्रों पर गहरा अविश्वास है और निम्नवर्गीय पात्रों के कथनों के ब्याज से उनका यह अविश्वास जगह-जगह व्यक्त हुआ है। कभी-कभी तो मध्यवर्ग के सदस्यों ने ही अपने वर्ग के ऐसे सदस्यों के ऐसे कार्यों की पूरी-पूरी भर्त्सना की है। उदाहरण के लिये एक महिला, जो मुकदमा चलने के समय

कोर्ट में जालपा के साथ बैठी थी, नाक सिकोड़कर कहती है—"जी चाहता है इस दुष्ट को गोली मार दें। ऐसे स्वार्थी भी इस अभागे देश में पड़े हैं जो नौकरी या थोड़े से धन के लोभ में निरपराधी के गले पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकते।" एक दूसरी महिला, जो आंखों पर ऐनक लगाये हुए थी, निराशा के भाव से कहती है—"इस अभागे देश का ईश्वर ही मालिक है। गवर्नरी तो लाला को कहीं मिली नहीं जाती। अधिक-से-अधिक कहीं क्लर्क हो जायेंगे। उसी के लिये अपनी आत्मा की हत्या कर रहे हैं। मालूम होता है कोई मरमुखा नीच आदमी है, परले सिरे का कमीना और छिछोरा।" एक महिला के यह पूछने पर कि भला तुम इसे पा ज़ाओ तो क्या करो, ऐनकबाज देवी उदंडता से कहती है—"नाक काट लूं, बस नकटा बनाकर छोड़ दूं।" एक दूसरी महिला कहती है—"सरे बाजार खड़ा करके पांच सौ जूते लगवाऊं।" इन आक्रोशपूर्ण वचनों से जहां यह स्पष्ट होता है कि समाज के लोगों में सरकारी गवाह के प्रति तीव्र घृणा और आक्रोश है वहां यह भी स्पष्ट है कि ऐसे कार्य मध्यवर्ग के महत्त्वाकांक्षी सदस्यों के द्वारा किये जाने के कारण मध्यवर्ग भी लोक निन्दा का भागी है। प्रेमचन्द को जहां भी अवसर मिलता है वे मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को अपने सामने करके यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि सामाजिक और मानवीय भावबोध की दृष्टि से किस वर्ग के पात्र अधिक सबल और संबुद्ध हैं।

मध्यवर्ग को ऐतिहासिक भूमिका में अवतरित कराकर उसकी गति-विधि का सम्यक् निरीक्षण करने के बाद प्रेमचन्द को यह स्पष्ट मालूम हो गया कि यह कार्य सम्पूर्णतः मध्यवर्ग के बूते की बात नहीं है। लेकिन सामाजिक पुनर्रचना का कार्य मध्यवर्ग ने एक विशेष परिस्थिति में, विशेष ढंग से, किया यह तो स्वीकार करना ही था। प्रेमचन्द के उपन्यासों के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्यों-ज्यों मध्यवर्ग अपनी प्रगतिशील भूमिका में पिछड़ता है त्यों-त्यों निम्नवर्ग उस भूमिका में अवतरित होने के लिये आगे बढ़ने की चेष्टा करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रमचन्द सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्माण के क्रम से मध्यवर्ग के सापेक्षिक महत्त्व को समझते थे और उसे स्वीकार भी करते थे लेकिन उसे समाज का भावी नियामक मानने को प्रस्तुत नहीं थे।

उनकी यह मंशा इससे भी स्पष्ट है कि उनके साहित्य में उच्चवर्ग के साथ-साथ मध्यवर्ग पर भी प्रभूत व्यंग्य प्रहार मिलते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के अनुशीलन और आकलन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने विशाल भारतीय समाज के सर्वेक्षण की चेष्टा की थी। लेकिन उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों को उनके अनुपात के अनुसार ही चित्रित किया। उच्चवर्ग में तो समाज के मुट्ठी भर लोग स्थान पाते हैं और वे भी बीते कल के लोग हैं। प्रेमचन्द ने उन्हें इसी रूप में चित्रित किया। ऐसे लोग जीने के लिये लाख यत्न करते हैं, मजदूरों और किसानों का गला काटते हैं, भाई का हक हड़पते हैं, लेकिन फिर भी ऐसा नहीं लगता कि ये आनेवाले युग में जी सकेंगे। इस वर्ग को इसी रूप में दिखलाना किसी भी लेखक का नैतिक और सामाजिक दायित्व हो जाता है। इनके जीवन में ऐसा कुछ है नहीं जो हमें रिझा सके, विभोर कर सके। इनके घरों की सजावट, इनकी वेशभूषा, खान-पान, मद-मत्सर, लड़ाई-झगड़ा, चुहल और इश्क, नाच और गाने, सैर और सपाटे सब किस्से की तरह आकर्षक, पर बेमानी हैं। प्रेमचन्द जैसा सजग लेखक इन बातों को जानता था और इसीलिये उसने इसी रूप में उच्चवर्ग को चित्रित किया है। लेकिन मध्यवर्ग उच्चवर्ग की तरह संक्षिप्त और सीमित नहीं है। संख्या की दृष्टि से यह निम्नवर्ग से हल्का भले ही पड़े, पर स्कूलों-कालेजों, कोर्ट-कचहरियों, सभा-सोसाइटियों और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं पर इसी का अधिकार है। इस वर्ग के महत्त्व से कब कौन इंकार करेगा? समाज के इतिहास को सही या गलत लिखने की क्षमता इसी में है। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी प्रेमचन्द कभी भी भ्रम में नहीं रहे। उनकी दृष्टि बड़ी साफ और दूर तक देखनेवाली थी। मध्यवर्ग के बाहरी चमक-दमक, दिखावे और महत्त्व को भेदकर प्रेमचन्द ने उसकी कुंठाओं, अन्तर्विरोधों और पलायनमुखी धारणाओं को देखा था। इसलिये अपने युग में चारों ओर मध्यवर्ग की यश-पताका फहराते हुए देखकर भी, वे भ्रम में नहीं रहे और उन्होंने निम्न-वर्ग को यह स्पष्ट संकेत दिया कि 'कायाकल्प' के चक्रधर या 'कर्मभूमि' के अमर-कान्त जैसे आदर्शवादी युवकों और नेताओं पर निर्भर नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द के समय का निम्नवर्ग कविवर सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में "अर्द्ध क्षुधित

शोषित निरस्त्र और मूढ़ असभ्य, अशिक्षित निर्धन" था। लेकिन फिर भी प्रेमचन्द्र ने यह देखा था कि जीवन के सड़े-गले रूप को मिटाकर उसे एक नया रूप देने की जैसी अदम्य आकांक्षा और नैतिक निष्ठा इस वर्ग में थी वैसी और किसी वर्ग में नहीं। वक्त आने पर निम्नवर्ग मध्यवर्ग की तरह पीछे पलटने वाला नहीं है। किसी के लप्पो-चप्पो से इस वर्ग को अधिक सरोकार नहीं है। यह अपने श्रम और शक्ति पर निर्भर करता है। इसीलिये अपनी सम्पूर्ण त्रुटियों के बावजूद निम्नवर्ग प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस रूप में चित्रित हुआ है कि पाठक इसे भावी समाज का नियामक, सामाजिक क्रांति का सूत्रधार और मानवता का प्रहरी मानने के लिये बाध्य होता है। इस वर्ग में ओंकारनाथ जैसे खुदगर्ज पत्रकार नहीं हैं जो वक्त पर अपने आदर्श की अकड़ भले ही दिखायें पर दूसरों से कौड़ी पाकर अपनी स्वतंत्रता बेच देते हैं। इस वर्ग में मेहता जैसा वाचाल प्रोफेसर नहीं है जो बातें तो बड़ी लम्बी-चौड़ी करता है पर उसका परिणाम कुछ नहीं होता। इस वर्ग में डॉ० सिन्हा और संतकुमार जैसे घोर यथार्थवादी और काइयां युवक नहीं हैं जिन्हें आये दिन एक न एक खुराफात सूझता ही रहता है। इस वर्ग में डॉ० भुवन मोहन जैसा लालची युवक नहीं है जो विवाह करने के लिये लड़की नहीं, दहेज देखता है। ससुर, सास या साले भले लोग हों या नहीं, मोटे आसामी हों यही उसकी इच्छा है। तभी तो वह विदेश जाकर परार्जित सम्पत्ति पर गुलछर्रे उड़ा सकता है। इस वर्ग में विट्ठलदास ऐसा व्यक्तिवादी समाजसुधारक नहीं है जो अपने मान की रक्षा न होते देख सिद्धान्तों को ताक पर रख देता है। ऐसे कितने ही तथाकथित सुसभ्य, सुसंस्कृत और पढ़े-लिखे लोगों से निम्नवर्ग वंचित है। लेकिन इससे इस वर्ग की कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि इस वर्ग में सूरदास जैसा सच्चा और निष्ठावान भिखारी है, जिसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जिसकी चारित्रिक दृढ़ता के सामने सब नाकों चने चबाते हैं; देवीदीन जैसा खटिक है, जो मौका पड़ने पर रमानाथ को आश्रय देता है, उसे पुलिस के चंगुल में देख अपनी गाढ़ी कमाई खर्च करके छुड़ाना चाहता है; मनोहर और उसके बेटे बलराज जैसे बहादुर किसान हैं जो आततायियों की ईंट का जवाब पत्थर से देते हैं; सुकखू चौधरी, दुखहरण और कादिर मियाँ जैसे

ग्रामीण हैं, जो मौका पड़ने पर अतुलनीय संगठन-शक्ति का परिचय देते हैं और एकजूट होकर झूठ और अन्याय का प्रतीकार करते हैं, अपनी सीमित शक्ति और स्वल्प साधनों से न्याय और व्यवस्था के कठिन व्यूह को भेदने की चेष्टा करते हैं, या फिर होरी, धनिया या सिलिया है, जो अपनी विपन्नता, आर्थिक परवशता और जातिगत हीनता में भी एक ऐसा अक्षय चारित्रिक सौन्दर्य बिखेरते हैं कि हम अभिभूत हो जाते हैं। इसलिये यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि प्रेमचन्द विशाल भारतीय समाज के सच्चे और समर्थ चितेरे हैं। उन्होंने समाज को सही अर्थों में चित्रित किया है। उनके कृतित्व के पृष्ठों की आरसी में समाज का शरीर नहीं, समाज की आत्मा प्रतिबिम्बित है।

—श्यामसुन्दर घोष

हिंदी विभाग,
गोड्डा कालेज,
गोड्डा, संताल परगना, बिहार।

जाति बनाम वर्ग

प्रेमचन्द बिना किसी वाद-विवाद के विशाल भारतीय समाज के चितेरे कहे जा सकते हैं। इस क्रम में यह दिखलाना होगा कि उन्होंने समाज के तीनों वर्गों—उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्ग का आनुपातिक और समीचीन अध्ययन किया है और सामाजिक जीवन में उनके औचित्य और महत्त्व को ठीक-ठीक आंका है। इन तीनों वर्गों के स्वभाव, रूप और प्रकृति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के निष्कर्ष बहुत सही रहे हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि विशाल भारतीय समाज मूलत: वर्गों का समूह न होकर विभिन्न जातियों का समूह है। इसलिये भारतीय समाज के चित्रण के क्रम में वर्गों को महत्त्व न देकर जातियों को महत्त्व देना होगा। विशाल भारतीय समाज मुख्यत: तीन जातियों—हिन्दू, मुसलमान और ईसाई के संयोग से बना है। सम्पूर्ण समाज के सर्वेक्षण के लिए इन तीनों जातियों की जीवन-प्रणाली, दृष्टिकोण और मनोभावों का सम्यक् मूल्यांकन आवश्यक है।

इन तीनों जातियों में हिन्दू संख्या और महत्त्व की दृष्टि से सर्वोपरि है लेकिन बाकी दो जातियाँ भी भुलाने के योग्य नहीं हैं। कम संख्या में होकर भी मुसलमान और ईसाई हिन्दुओं से किसी भी भाँति कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस बात को गांधी और प्रेमचन्द युग के नेताओं और साहित्यकारों ने समान रूप से समझा था। उन्होंने भारतीय समाज के परिपार्श्व में इन दोनों जातियों को उचित महत्त्व और स्थान दिया।

विशाल भारतीय समाज कई जातियों का समुच्चय है सही लेकिन ये जातियाँ जाति रूप में जीवित होकर भी अपनी जातीयता या जाति-गुण खोती जा रही हैं। सभ्यता और मानवीय भाव-बोध के विकास के साथ-साथ जाति-चरित्र क्षीण होता है और उसके स्थान पर वर्ग-चरित्र उभरने लगता है। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जाति अतीत की चीज है, पुरानी समाज-व्यवस्था की संकेतिका है जबकि वर्ग वर्तमान जीवन की सच्चाई है, गतिशील आधुनिक समाज-व्यवस्था का द्योतक है। अन्य सभ्य और सुविकसित देशों में जाति-चरित्रों का क्रमशः लोप होता गया है और उसके स्थान पर वर्गचरित्र का रूप स्पष्ट होता गया है। कोई भी जीवन्त और गतिशील समाज जाति-व्यवस्था की जड़ता और स्थिरता को सहन नहीं कर सकता, वह उसके स्थान पर वर्ग-व्यवस्था को पसन्द करता है क्योंकि यह अधिक गतिशील समाज-व्यवस्था है। जाति जन्म से निर्धारित होती है और जन्म पर आदमी का अधिकार नहीं है जबकि वर्ग, कर्म, श्रम-साधना और युक्ति से निर्धारित होता है। मनुष्य यदि चाहे तो अपने जीवन में इन उपकारणों का संयोग करके अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है, निम्नतर वर्ग का संक्रमण कर उच्चतर वर्ग में प्रविष्ट हो सकता है।

समाज के सम्यक् अध्ययन के लिए विभिन्न वर्गों के आपसी संबंधों, उनके क्रिया-कलापों और घातों-प्रतिघातों का अध्ययन ही अभीष्ट है, जातियों के अध्ययन से यह काम नहीं होने को है। किसी भी जाति को लीजिये उसमें धनी, गरीब और मध्यवित सभी प्रकार के लोग होते हैं। इन सभी श्रेणियों का अध्ययन तभी सम्भव है जबकि इन्हें वर्ग रूप में देखा जाय। एक जाति मात्र

लेने पर इन विभिन्न श्रेणियों का सम्यक् मूल्यांकन हो ही नहीं सकता। जो गरीब हिन्दू हैं वे अपने सजातीय अमीर हिन्दुओं से कोई संबंध नहीं रख पाते। दोनों का अपना-अपना वर्गगत घेरा है, जिसको तोड़ना जाति के वश की बात नहीं है। उनका आपस में हार्दिक संबंध नहीं के बराबर है। वे अधिक-से-अधिक मालिक और नौकर या जमींदार और किसान के नाते आपस में बँधे हैं। एक जाति के सदस्य होते हुए भी ये अपने को दो विरोधी स्थितियों में पाते हैं—एक शोषक है दूसरा शोषित, एक भक्षक है दूसरा भक्ष्य, एक घोड़ा है दूसरा घास। इसके विपरीत एक गरीब हिन्दू चाहे वह मजदूर हो या किसान अपने स्वर्गीय विजातीय मुसलमान या किसी अन्य जाति के सदस्यों से अधिक घनिष्ठता महसूस करता है। खेतों और खलिहानों में पूस-माघ की ठिठुरती हुई सर्दी और जेठ-बैशाख की चिलचिलाती धूप में उसके साथ काम करनेवाला अमीर हिन्दू नहीं बल्कि गरीब मुसलमान है। इसलिये वह उसके साथ बैठकर आपबीती और जगबीती कह-सुन सकता है, गप्पें लड़ा सकता है, हुक्का-चिलम पी सकता है और दुनिया भर की बातें कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि बड़ी जाति नहीं, बड़ा वर्ग है। वही हमारे जीवन की धुरी है, हमारे दैनन्दिन जीवन को बनाता-बिगाड़ता है, हमारे मनोभावों को प्रभावित करता है और जीवन को गति देता है। इस दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज को वर्गों की दृष्टि से देखा जाय, जाति के अनुसार नहीं। इससे समाज के सही रूप का ज्ञान भी होगा और जातिवाद की नींव भी कमजोर होगी।

जटिल सामाजिक जीवन में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जबकि जाति-जीवन के सामने वर्ग-जीवन लुप्त हो जाता है। तब ऐसा मालूम होने लगता है कि जाति ही प्रमुख है, वर्ग नहीं। विशेषकर ऐसी स्थितियां तब उपस्थित होती हैं, जब विभिन्न जातियों के सदस्यों के मन में साम्प्रदायिक भेदभावों को उकसा दिया जाता है। प्रेमचन्द के युग में ऐसी बहुत-सी घटनायें घटी थीं। तब हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक आवेश में आकर अपने वर्ग-चरित्र को भूल बैठे थे और उन्होंने अपने को हिन्दू और मुसलमान मान लिया था। प्रेमचन्द ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'कायाकल्प' में एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया

है। "पंजाब से मौलवी दीनमुहम्मद साहब का आगमन हुआ। खुले मैदान में मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ। उसमें मौलाना साहब ने न जाने क्या जहर उगला कि तभी से मुसलमानों को कुरबानी की धुन सवार है। इधर हिन्दुओं को भी यह जिद है कि चाहे खून की नदी बह जाय पर कुरबानी न होने पायेगी। दोनों तरफ से तैयारियाँ हो रही हैं।" ऐसे साम्प्रदायिक आवेशों के बीच ही वर्ग-चरित्र लुप्त हो जाता है और जाति सर्वप्रमुख प्रतीत होने लगती है। लेकिन ऐसे आवेशमूलक क्षण सामाजिक जीवन की सरिता में बुलबुले की भाँति उगते हैं और मिट जाते हैं। प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' में इस सत्य को भी पूर्णतया परि-पुष्ट कर दिया है। यशोदानन्दन और ख्वाजा साहब हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधि हैं। दोनों का अपना-अपना गिरोह है, जिसके वे अगुआ हैं। दोनों बचपन के साथी हैं और साथ ही पढ़े हैं, लेकिन परिस्थिति के प्रभाव में आकर वे साम्प्रदायिक कटुता से संयुक्त हो गये हैं, जिसका परिणाम हुआ कि ज़रा-ज़रा-सी बात पर दोनों दलों के सिर फिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग भंग हो जाते। कहीं बनिये ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दुकान पर धावा कर दिया। कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गई। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गए, दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे। (पृ० १९४) होते-होते बात यहीं तक आगे बढ़ती है कि सार्वजनिक दंगे की नौबत आ जाती है। इसी क्रम में बाबू यशोदानन्दन मारे जाते हैं। "यह आहुति पाकर अग्नि और भी भड़की। खून का मज़ा पाकर लोगों का जोश दूना हो गया। अब फतह का दरवाजा खुला हुआ था। बाबू यशोदानन्दन के मरने की खबर पाते ही सेवादल के युवकों का खून खौल उठा। सेवादल के दो सौ युवक तलवारें लेकर निकल पड़े और मुसलमान मुहल्लों में घुसे। दो-चार बन्दूकें और पिस्तौलें भी खोज निकाली गयीं। हिन्दू मुहल्लों में जो कुछ मुसलमान कर रहे थे, मुसलमान

मुहल्लों में वही हिन्दू करने लगे।" (पृ० १६६) लेकिन यह सब-कुछ होने पर भी ये द्वेश और दंगे स्थायी सामाजिक सत्य नहीं बन पाते। साम्प्रदायिक आवेशों का यह सिलसिला शीघ्र ही टूट जाता है। मुंशी यशोदानन्दन की लाश को देखते ही ख्वाजा साहब विलाप करने लगते हैं। अपने गिरोह के लोगों से यह खबर पाकर कि गुंडे यशोदानन्दन की कन्या अहल्या को उठा ले गये, ख्वाजा महमूद साहब बेचैन हो जाते हैं और कलामे मजीद की कसम खाकर कहते हैं—सारे शहर की खाक छान डालूंगा—एक-एक घर में जाकर देखूंगा अगर किसी बेदीन बदमाश ने मार नहीं डाला तो जरूर खोज निकालूंगा। भाभी से मेरी तरफ से अर्ज कर देना—मुझ से मलाल न रखें। यशोदा नहीं है, लेकिन महमूद है। जब तक उसके दम में दम है उन्हें कोई तकलीफ नहीं होगी। कह देना महमूद या तो अहल्या को खोज निकालेगा या मुंह में कालिख लगाकर डूब मरेगा। यह कहकर ख्वाजा महमूद लकड़ी उठाते हैं और अहल्या की खोज में निकल पड़ते हैं। (पृ० १६८) कहने का तात्पर्य यह कि विशाल सामाजिक जीवन में ऐसे साम्प्रदायिक आवेशों का कोई महत्त्व नहीं है। ये सामाजिक विवेक के परिचायक न होकर, क्षणिक उत्तेजना के भयंकर विस्फोट हैं। ये दंगे और साम्प्रदायिक विद्वेषपूर्ण घटनाएं गांधी युग की वास्तविकता थी, तत्कालीन सामाजिक सत्य था। इस रूप में प्रेमचन्द को इन घटनाओं का उल्लेख करना ही था क्योंकि ऐसा न करने से तत्कालीन समाज की कटु वास्तविकता को झुठलाना होता। लेकिन प्रेमचन्द यह समझते थे कि समाज इन जातीय विद्वेषों से गठित नहीं है। उनके सम्पूर्ण साहित्य के अनुशीलन से यह बात आइने की तरह साफ झलक जाती है कि समाज हिन्दू मुसलमानों और ईसाइयों का समूह न होकर धनी, गरीब और मध्यवित लोगों का समूह है। इन समूहों के सम्पर्क अध्ययन से ही समाज का मुखौटा सही-सही पहचाना जा सकता है।

ऊपर यह स्वीकारा गया है कि स्थायी सामाजिक सत्य जाति नहीं, वर्ग है। लेकिन भारतीय समाज की यह विशेषता है कि जाति में वर्ग और वर्ग में जाति इस प्रकार घुले-मिले हैं कि कभी-कभी जाति और वर्ग में अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। जाति और वर्ग की इस मिलावट के कारण ही भारतीय जनता

दीन मुहम्मद जैसे साम्प्रदायिक नेताओं के चकमें में आ जाती है और अपने वर्ग-चरित्र को भूलकर जाति के नाम पर कटती-मरती है; हालाँकि पीछे चलकर वह महसूस करती है कि इससे क्षति उसी की हुई है। आग लगाकर तमाशा देखने वाले तो दूर ही खड़े रहते हैं। इस हालत में जनता ही मिटती है, बेघरबार होती है और दर-दर की ठोकरें खाती है। प्रेमचन्द ने इस सत्य को ठीक-ठीक समझा था इसलिये उन्होंने वर्ग-विवेक को जागृत करके उसे जाति-विवेक पर हावी कराना चाहा था। उनके उपन्यासों में ऐसे बहुत से पात्र-पात्री मिलेंगे जो अपनी जाति भूलकर वर्ग-चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जो भी मुस्लिम और ईसाई पात्र-पात्री आये हैं उनमें जाति-गुण की प्रमुखता न होकर वर्ग-गुण की ही प्रमुखता है। उदाहरण के लिये रंगभूमि की प्रमुख पात्री सोफिया या उसके भाई प्रभुसेवक को लीजिये। उन्हें देखकर यह समझना मुश्किल है कि वे मूलतः ईसाई हैं। उनके चरित्र में जाति-तत्त्व की अपेक्षा वर्ग-तत्त्व ही अधिक प्रमुख है। सोफिया में ईश्वरसेवक की-सी धार्मिक कट्टरता नहीं है। उसमें तत्कालीन मध्यवर्ग की नई पीढ़ी की स्वतंत्र चेता बुद्धि और विवेक है। गिरजे जाना, बायबिल पढ़ना और नियमित प्रार्थना करना इन धार्मिक ढकोसलों में उसका विश्वास नहीं है। लेकिन उसकी ये सारी मनोवृत्तियाँ उसके परिवार वालों को पसन्द नहीं हैं। इस पर सोफिया सोचती है—"ऐसे जीवन पर धिक्कार है। मैंने देखें हैं हिन्दू घरानों में भिन्न-भिन्न मतों के प्राणी कितने प्रेम से रहते हैं। बाप सनातन धर्मावलम्बी है तो बेटा आर्य समाजी। पति ब्रह्म समाज में है तो स्त्री पाषाण पूजकों में। सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। कोई किसी से नहीं बोलता। हमारे यहाँ आत्मा कुचली जाती है। फिर भी यह दावा है कि हमारी शिक्षा और सभ्यता विचार-स्वातंत्र्य के पोषक हैं। (पृष्ठ ३४) इससे स्पष्ट है कि सोफिया मध्यवर्ग की आदर्श प्रिय नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती है। उसे अपने माता-पिता की व्यवसाय-बुद्धि से उतनी ही चिढ़ है जितनी कि अपने दादा ईश्वरसेवक की धर्मान्धता से। माता-पिता के मनोभावों को जान लेने पर भी वह क्लार्क से, जो उसका सजातीय है और एक वरिष्ट अधिकारी है, विवाह करने के लिए कतई प्रस्तुत नहीं है। बला से मि०

क्लार्क सोफिया के पीछे पागल हों लेकिन सोफी उसकी परवाह नहीं करती। वह अपनी जाति की संकीर्ण परिधि को लाँघकर भारतीय समाज की एक जागरूक सदस्या के रूप में अपना स्वतंत्र जीवन जीती है। मौका पड़ने पर वह मि० क्लार्क के साथ प्रेम का झूठा अभिनय करती है, उनकी आँखों में धूल झोंकती है और झूठे वादे करती है। लेकिन इससे इसके आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रभुसेवक जौनसेवक जैसे व्यवसायी पिता का पुत्र होकर भी स्वतन्त्र और रोमाँटिक प्रकृति का युवक है। वह कविताएँ लिखता है और अपने को एक साहित्यकार के रूप में देखता है। पिता की व्यवसाय-बुद्धि से वह भी चिढ़ा रहता है लेकिन उसमें सोफिया जैसा तेज नहीं है कि वह मात्र अपने ही सहारे जिये। पिता के दृष्टिकोण से असहमत होकर भी वह उनकी आज्ञा मानने के लिये बाध्य है। लेकिन उसके हृदय में एक दूसरी ही कामना है। अपने पिता के कार्यों की आलोचना करता हुआ वह कहता है—"मुझे तो सिर से इस काम से घृणा है, मैं न इसे पसन्द करता हूँ और न इसके योग्य हूँ। मेरे जीवन का सुख स्वर्ग तो यही है कि किसी पहाड़ी के दामन में एक जलधारा के तट पर छोटी-सी झोंपड़ी बना कर पड़ा रहूँ। न लोक की चिन्ता हो, न परलोक की। न अपने नाम को कोई रोने वाला है, न हँसने वाला। यही मेरे जीवन का उत्तम आदर्श है। पर उस आदर्श को प्राप्त करने के लिये जिस संयम और उद्योग की जरूरत है उससे वंचित हूँ। (पृष्ठ ३९४) इस रूप में प्रभुसेवक को एक ठेठ मध्यवर्गीय साहित्यकार ही समझा जा सकता है, किसी जाति विशेष का सदस्य नहीं। तत्कालीन छायावादी साहित्यकारों के जो मनोभाव थे उससे प्रभुसेवक के मनोभाव बहुत दूर तक मिलते-जुलते हैं। उसके स्वभाव में एक प्रकार की स्वप्नशीलता और पलायनवादिता है। वह अपनी स्वीकारोक्ति में इस सत्य को स्वीकार भी करता है। इन्द्रदत उसकी इसी त्रुटि को ध्यान में रखकर उससे कहता है—"तुम्हारी रचनाओं में तो एक-एक शब्द से नैतिक विकास टपकता है ऐसी उड़ान भरते हो कि हरिश्चन्द्र और हुसैन भी मात हो जायें मगर मालूम होता है तुम्हारी समस्त शक्ति शब्द-योजना में ही उड़ जाती है क्रियाशीलता के लिये कुछ

बाकी नहीं बचता। यथार्थ तो यह है कि तुम अपनी रचनाओं की गर्द को भी नहीं पहुँचते बस, जबान के शेर हो। (पृष्ठ ३९३) इस रूप में प्रभुसेवक एक शासक-जाति का तरुण सदस्य नहीं, एक रोमांटिक स्वप्नशील साहित्यकार ही है।

जब सोफिया प्रभुसेवक से बातचीत कर मि० क्लार्क के सम्बन्ध में उसके मनोभावों को जानना चाहती है तो प्रभुसेवक सोफिया से कहता है—"कई बार संकेत कर चुका हूँ कि मुझे किसी दशा में क्लार्क को अपना बहनोई बनाना पसन्द नहीं है। मुझे न जाने क्यों उससे चिढ़ है। वह बिचारे मेरा आदर करते हैं, पर अपना जी उनसे नहीं मिलता। एक बार मैंने उन्हें अपनी एक कविता सुनाई थी। उसी दिन से मुझे उनसे चिढ़ हो गयी। बैठे सोंठ की तरह सुनते रहे, मानो मैं किसी दूसरे आदमी से बातें कर रहा हूँ। कविता का ज्ञान ही नहीं। उन्हें देखकर बस यही इच्छा होती है कि खूब बनाऊँ।" (पृ० २७०) इससे स्पष्ट है कि प्रभुसेवक के मन में अपने सजातीय मि० क्लार्क के लिए जरा भी प्रेम नहीं है। बला से उसके माता-पिता क्लार्क की खुशामद करें, उन्हें अपना भावी दामाद मानकर अपनी भविष्यत् योजनाओं को एक निश्चित आधार दें, लेकिन प्रभुसेवक और सोफिया माता-पिता के मनोभावों से चालित होने वाले नहीं हैं।

यहाँ प्रेमचन्द ने यह दिखलाया है कि न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों में वरन् ईसाइयों में भी नई और पुरानी पीढ़ी का, आदर्शात्मक और व्यावहारिकता का वैसा ही तीव्र संघर्ष व्याप्त है। ईसाई कितने हो सभ्य और सुशिक्षित क्यों न समझे जाते रहे हों, उनके पारिवारिक जीवन में भी वैसा ही विरोध और कशमकश है जैसा कि ठेठ हिन्दू और मुस्लिम परिवारों में। प्रेमचन्द ने प्रत्येक जाति और वर्ग के बाहरी आवरणों को भेदकर उनके प्रकृत रूप को जाना था। जैसा विरोध 'कर्मभूमि' में अमरकान्त और समरकान्त के बीच है, 'कायाकल्प' में वज्रधर और चक्रधर के बीच है वैसा ही विरोध 'रंगभूमि' में जौनसेवक और प्रभुसेवक में है। इन तीनों प्रकार के विरोधों में मात्रा का अन्तर हो सकता है, पर प्रकार एक ही है। नई और पुरानी पीढ़ी का यह वैषम्य मात्र मध्यवर्ग में रहा हो ऐसा भी नहीं है। 'गोदान' में होरी और गोबर का और 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर और मायाशंकर का विरोध भी इसी प्रकार का विरोध है। इसी विरोध की क्रिया-प्रतिक्रिया से

विशाल भारतीय जीवन आगे बढ़ा है, इसे प्रेमचन्द ने समझा था। सामाजिक जीवन की सरिता में जो विभिन्न धाराएँ और उपधाराएँ थीं, उनमें जो गति-साम्य या गति-वैषम्य था, वे जहाँ, जिसको, जिस ढंग से काटती थीं, स्वयं आगे बढ़ती थीं या रुद्ध होती थीं, जिन अनेकानेक भंवरों और आवर्त्तों का निर्माण करती थीं, फेन बुलबुले और शोर पैदा करती थीं उन सबको प्रेमचन्द ने ठीक-ठीक जाना था। इसीलिये उनके उपन्यासों में न केवल पिता और पुत्र का विरोध, वरन् भाई और भाई का विरोध, चाचा और भतीजा का विरोध, पति और पत्नी का विरोध, माता और पुत्र का विरोध अपने विविध रूपों में लक्षित होते हैं। ये सारे विरोध भारतीय समाज के सत्य हैं। इन्हीं के बीच से समाज पुराने केंचुल को छोड़कर नया रूप ग्रहण कर रहा है, यह भी स्पष्ट होता है।

सभ्यता का विकास जाति-चरित्र के ऊपर वर्ग-चरित्र की कलमें उगाता है और इस प्रकार जाति अपदस्थ होती है। हमने प्रभुसेवक और सोफिया के चरित्र से यह समझने की चेष्टा की है कि किस प्रकार जाति पर वर्ग हावी होता है। ऐसा ही एक चरित्र 'प्रेमाश्रम' के मिर्जा साहब का है। वे मुसलमान बाद में हैं, एक ठेठ मध्यवर्गीय चरित्र पहले। वे किस प्रकार लोगों की आँखों में धूल झोंक कर मदरसे और यतीमखाने के नाम पर लोगों से चन्दा वसूल करते हैं और उसे अपने काम में लाते हैं, यह ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है—"बस दुनिया में कामयाबी का नुस्खा है तो वह शतरंजबाजी है। आदमी जरा लस्सान हो, जरा मर्दमशनास हो और जरा गिरहबाज हो। बस उसकी चाँदी है। (पृ० २४८) अपने इन्हीं गुणों के बल पर मिर्जा साहब की पाँचों अंगुलियाँ घी में हैं, वे सभा-समाज में यतीमों की दुहाई दे-देकर चन्दे की अपील करते हैं और आँख के अंधे गाँठ के पूरों से हजार दस हजार आसानी से ऐंठ लेते हैं। लेकिन इतना होने पर भी उनके स्वभाव का काइंयापन नहीं जाता। बाजार से कितने ही लोगों के पैसे उन पर निकलते हैं। पर वे देने का नाम नहीं लेते। जब एक वफाती कहता है—"आप यतीमखाने के नाम पर चारों तरफ से हजारों रुपये लाते हैं, मेरा रुपया क्यों नहीं देते," तो मिर्जा साहब कहते हैं—"दुनिया न ऐसी अंधी है, न ऐसी अहमक। अब लोगों के दिल पत्थर हो गये हैं, कोई पसीजता ही नहीं। खुदा के लिये एक माह

और सब्र करो। दिसम्बर का महीना आने दो। जिस तरह क्वार और कार्तिक हकीमों के फसल के दिन होते हैं उसी तरह दिसम्बर में हमारी भी फसल तैयार होती है। हर एक शहर में जलसे होने लगते हैं। अब की मैंने वह मंत्र जगाया है कि जो कभी खाली जा ही नहीं सकता।" (पृष्ठ २४१) इससे स्पष्ट है कि मिर्जा साहब किस कैंडे के आदमी हैं। प्रेमचन्द ने इन्हें मध्यवर्गीय मुफ्तखोरों के प्रतिनिधि के रूप में ठीक-ठीक चित्रित किया है। जब कोई इनकी हरकतों से तंग आकर नालिश करने की धमकी देता है तो ये कहते हैं—"नालिश क्यों करेंगे ? कह दो थोड़ा-सा जहर भेज दें, खाकर मर जाऊँ।" अब इस बेहयाई से कौन पार पाये। ये अपने सजातीय नौकरों से भी वैसा ही काइंयापन भरा व्यवहार करते हैं। जब कोई तगादा करनेवाला ड्योढ़ी से किसी प्रकार नहीं टलता और यह जानकर कि मिर्जा साहब ऊपर छिपे बैठे होंगे, सीढ़ियां पार कर इन तक जा पहुँचता है, तो ये नौकरों को डांटते हैं और कहते हैं—"न हो तो लोगों को धक्का दे दिया करो।" इस पर उनका नौकर जवाब देता है—"हाथा-पाई किस बूते पर करूँ ? कभी सालन तक नसीब नहीं होता। दरवाजे पर पड़ा-पड़ा मसाले और प्याज की खुशबू लिया करता हूँ। सारा घर पुलाव और जरदें उड़ाता है। यहाँ खुशक रोटियों पर ही बसर है। मुझे भी तर माल खिलाइये फिर देखूं कौन घर में कदम रखता है।" (पृ० २४०) यहाँ स्पष्ट है कि मिर्जा साहब के स्वभाव में जो खुदगर्जी और मक्कारी है, जो कपटपूर्ण व्यवहार है वह इन्हें वर्ग-चरित्र के रूप में ही परिपुष्ट करता है। ऐसे कितने ही चरित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों में आसानी से ढूंढ़े जा सकते हैं। चाहे 'गोदान' का ग्रामीण पुरोहित दातादीन हो या शहरी दलाल खन्ना या सम्पादक ओंकारनाथ या 'प्रेमाश्रम' का गौस खां, ये सभी एक ही थैले के चट्टे-बट्टे हैं। ब्राह्मण कायस्थ या हिन्दू मुसलमान होने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस क्रम में वेश्याओं को भी लिया जा सकता है। चाहे वह 'सेवासदन' की भोली हो या 'गबन' की जोहरा, वे परिस्थिति के शिकंजे में पड़ी वेश्यायें हैं, किसी विशेष जाति की सदस्या नहीं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में यह बात भली-भाँति प्रकाशित कर दी है कि जाति का नारा गलत नारा है। इससे समाज का कल्याण नहीं होनेवाला है। यह

नारा तभी दिया जाता है जब कोई व्यक्ति या वर्ग समाज को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। जब वह अपने तिकड़म में सफल हो जाता है तो अपनी जाति के उन लोगों को, जिन्हें भड़काकर उसने अपना उल्लू सीधा किया था, दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर करता है। इसलिये समाज हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों का नहीं, ऊंचे-नीचे और मध्यवित लोगों का है। जब भारतीय जनता अपने को इस रूप में पहचानेगी और अपने शोषकों से सतर्क हो जायेगी तभी उसका कल्याण होगा।

ऊपर भारतीय समाज को तीन जातियों—हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई का उल्लेख किया गया है। इन तीनों जातियों में से दो जातियों में अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों में वर्ग-चरित्र अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। लेकिन ईसाइयों में वर्ग-चरित्र उतना स्पष्ट नहीं है। इसके कारण हैं। जब कोई जाति विकसित हो चुकती है या कुछ पुरानी हो जाती है तो उसके जातीय लक्षण क्षीण होने लगते हैं। संख्या अधिक हो जाने से और समय की एक लम्बी अवधि बीत जाने से जाति का केन्द्रीय अनुशासन ढीला हो जाता है। तब जाति वर्गों में बँट जाती है। लेकिन जब कोई जाति सीमित संख्या में होती है, या स्थापना के क्रम में होती है, तो एक केन्द्रीय सूत्र उन्हें बाँधे रखता है। भारतीय ईसाइयों के संबंध में यही बात कही जा सकती है। भारतीय समाज में ईसाइयों की स्थिति अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। जो थोड़े से लोग हिन्दू और अन्य धर्म को छोड़कर ईसाई बनते हैं वे जाति के साथ-साथ अपने वर्ग को भी परिवर्तित कर लेते हैं। भारतीय समाज के निम्नवर्गीय लोगों ने ही प्रायः ईसाई धर्म कबूल किया था। ऐसा उन्होंने या तो किसी प्रलोभन में आकर किया या और किसी कारणवश। हिन्दू धर्म की संकीर्णता और अनुदारता भी बहुत अंशों में इसके कारण थे। ऐसे निम्नवर्गीय लोग जाति परिवर्तित करते ही निम्नवर्ग से उठकर मध्यवर्ग या उच्चवर्ग में चले जाते थे। इसलिये इनकी दृष्टि में जाति प्रमुख थी, क्योंकि जाति के चलते ही वर्ग का उत्थान और पतन सम्भव था। इसलिए नये बने हुए ईसाइयों की दृष्टि में वर्ग का महत्त्व न होकर, जाति का महत्त्व था। दूसरी बात यह थी कि ईसाई जाति शासकों की जाति थी। इसलिये इस जाति के लोग अपने

को शासक जाति के सदस्य के रूप में मानते थे। वर्ग के वैविध्य से भरे समाज की कल्पना वे नहीं करते थे। तत्कालीन सामाजिक स्थिति यह थी कि एक मध्य-वित मुसलमान अपने को मध्यवित हिन्दुओं के समीप भले ही अनुभव करता रहा हो, लेकिन एक मध्यवित ईसाई अपने को मूलतः ईसाई या एक शासक जाति का सदस्य ही समझता था, मध्यवर्ग का सदस्य नहीं। वह भावात्मक दृष्टि से अपने को मध्यवर्ग के घेरे में न पाकर, शासकों की उच्च परिधि में प्रविष्ट पाता था। 'रंगभूमि' में जौनसेवक या उनकी पत्नी मिसेज सेवक कुछ हद तक इन्हीं दृष्टिकोणों से परिचालित होनेवाले पात्र हैं। एक स्थान पर मिसेज सेवक अपने पुत्र प्रभुसेवक से कहती है—"मुझे इन हिन्दुस्थानियों पर विश्वास नहीं आता। दगाबाजी कोई इनसे सीख ले। अभी सबके सब हाँ कर रहे हैं मौका पड़ने पर सब निकल जायेंगे। यह जाति ही हमारी दुश्मन है। इनका वश चले तो एक ईसाई भी मुल्क में न रहने पाये। खुदा वह दिन न लाये कि हम इन विधर्मियों की दोस्ती को अपने उद्धार का साधन बनायें। हम शासन-धिकारियों के सहधर्मी हैं। हमारा धर्म, हमारी रीति-नीति, हमारा आहार-व्यवहार अंग्रेजों के अनुकूल है। हम और वे एक कलिलिया में, एक परमात्मा के सामने सिर झुकाते हैं। हम इस देश में शासक बनकर रहना चाहते हैं, शासित बनकर नहीं।" (पृ० १५४) ये पंक्तियाँ स्पष्ट कर देती हैं कि मिसेज सेवक के मनोभाव किस प्रकार के हैं। उनकी ये बातें प्रभुसेवक के दिल में नहीं उतरतीं इसलिये वह कह उठता है—"मामा, यह आपका अन्याय है। हम खुद अंग्रेजों की नकल करके उन्हें चिढ़ाते हैं। प्रत्येक अवसर पर अंग्रेजों की सहायता से उन्हें दबाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु यह हमारी राजनीतिक भ्रांति है। हमारा उद्धार देशवासियों से भ्रातृभाव रखने में है, उन पर रोब जमाने में नहीं। आखिर हम भी तो इसी जननी की संतान हैं। यह असम्भव है कि गोरी जातियाँ केवल धर्म के नाते हमारे साथ भाईचारे का व्यवहार करें। अमेरिका के हब्शी ईसाई हैं लेकिन अमेरिका के गोरे उनके साथ कितना पाशविक और अत्याचारपूर्ण बर्ताव करते हैं। हमारी मुक्ति भारतवासियों के साथ है। (पृ० १५४) लेकिन यह तो नई पीढ़ी का दृष्टिकोण है। ये यथार्थ के अधिक निकट हैं। इन्होंने संसार के इतिहास

का अध्ययन किया है और सामयिक घटनाओं से सीख ली है। पराधीनता के जमाने में भी प्रेमचन्द अपने ईसाई पात्रों में यह चेतना समाविष्ट कर सके हैं, यह उनकी गौण उपलब्धि नहीं है। लेकिन पुरानी पीढ़ी के ईसाई इसे नहीं मानते। प्रभुसेवक की बात सुनकर जौनसेवक कह उठते हैं—"प्रभुसेवक, तुमने बड़ा गहन विषय छेड़ दिया है। मेरे विचार में हमारा कल्याण अंग्रेजों के साथ मेल-जोल करने में है। अंग्रेज इस समय भारतवासियों की संयुक्त शक्ति से चिंतित हो रहे हैं। हम अंग्रेजों से मैत्री करके उन पर अपनी राजभक्ति का सिक्का जमा सकते हैं और मनमाने स्वत्व प्राप्त कर सकते हैं। खेद यही है कि हमारी जाति ने अभी तक राजनीतिक क्षेत्र में पग नहीं रखा। यद्यपि देश में हम अन्य जातियों से शिक्षा में कहीं आगे बढ़े हुए हैं, पर अब तक राजनीति पर हमारा कोई प्रभाव नहीं है। हिन्दुस्थानियों में मिलकर हम गुम हो जायेंगे। खो जायेंगे। उनसे पृथक् रहकर विशेष अधिकार और विशेष सम्मान प्राप्त कर सकते हैं। (पृ० १५५) मिस्टर सेवक और मिसेज सेवक के कथनों से तत्कालीन ईसाई जाति में जो एक फिरकापरस्त जमात थी उनकी बात साफ-साफ समझ में आ जाती है। विशेष अधिकार और विशेष सम्मान प्राप्त करने के लिये ये क्या नहीं कर सकते थे। लेकिन यह खुदगर्जी भी इन्हें मध्यवर्ग के उन अवसरवादियों के रूप में ही चित्रित करती है जो किसी भी भाँति अधिकार और सम्मान प्राप्त करके उच्चवर्ग में मिल जाना चाहते हैं। समाज की प्रतिक्रियावादी भूमिका में अवतरित होनेवाले ये कुशल अभिनेता स्वयं अपनी ही जाति और वर्ग की दृष्टि में, प्रभुसेवक और सोफिया की दृष्टि में, कितने नीचे हैं इसे प्रेमचन्द ने भली-भाँति दिखाया है।

हिन्दू और मुसलमानों की भाँति ईसाइयों में स्पष्टतः तीन वर्ग नहीं थे। निम्नवर्ग का उस जाति में प्रायः अभाव था क्योंकि पादरियों और शासकों की यत्किंचित् सहानुभूति उस जाति के प्रति थी। हाकिम-हुक्कामों से मेल-जोल रहने के कारण उन्हें नौकरियाँ भी हिन्दू और मुसलमानों की अपेक्षा आसानी से मिल जाती थी। दूसरे उस जाति के अधिकांश लोग ऐसे लोगों में से थे जिन्होंने निम्न-वर्ग की गरीबी और दुख दैन्य से छुटकारा पाने के लिए ही ईसाई मत अंगीकार किया था। अतः ईसाई समाज में मुख्यतः दो ही वर्ग के—मध्यवर्ग और

उच्चवर्ग। मध्यवर्ग भी ऐसा था जो उच्चवर्ग के मनोभावों से प्रभावित था, उसमें ईश्वरसेवक, जौनसेवक और मिसेज सेवक जैसे लोगों की प्रधानता थी। वे स्चेष्ट थे कि अपने वर्ग को छोड़कर उच्चवर्ग में मिल जायें। इसके लिए वे नील की कोठियाँ खोलते थे, कारखाने खड़े करते थे या और कोई लासानी तजवीज ढूंढ़ते थे। इस दृष्टि से ईसाइयों में वर्ग-चरित्र उतना स्पष्ट नहीं था जितना कि जाति-चरित्र। पर प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक विवेक के आधार पर यह स्पष्ट जाना था कि ईसाइयों का जाति-चरित्र अधिक दिनों तक टिकनेवाला नहीं है। स्वयं ईसाई जाति के प्रगतिशील सदस्य, सोफिया या प्रभुसेवक जैसे लोग इस बात को समझने लगे थे। प्रेमचन्द ने यह जाना था कि बहुत शीघ्र ही ईसाइयों में भी जाति-चरित्र के स्थान पर वर्ग-चरित्र स्पष्ट होंगे। इसलिये उन्होंने ईसाई पात्रों को भी वर्ग-चरित्र के रूप में ही अंकित किया। इससे प्रेमचन्द की दूर-दर्शिनी प्रतिभा का अनुमान होता है। 'रंगभूमि' के ईश्वरसेवक, जौनसेवक या प्रभुसेवक किसी को भी लीजिये इनमें आपको जाति-गुण नहीं, वर्ग-गुणों की प्रधानता ही मिलेगी। प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' के माध्यम से यह मृत्य भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि ईसाई जाति के रूप में नहीं, वर्ग के रूप में ही भारतीय समाज में स्थापित हो सकते हैं। आज स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह सत्य भली-भांति स्पष्ट हो गया है।

अंग्रेज शासक ईसाई जाति के हैं सही लेकिन इससे भारतीय ईसाइयों को बहुत दिनों तक लाभ होने वाला नहीं है। वे जौनसेवक को ईसाई होने के नाते हिन्दू और मुसलमानों की अपेक्षा कुछ सुविधा दे सकते हैं पर अधिक मुँहलग्गा नहीं बना सकते। यह सुविधा भी ईसाई होने के नाते उतनी सुलभ नहीं, जितनी इस कारण कि मि० क्लार्क सोफिया से इशक लड़ाना चाहते हैं। जौन अन्ततः एक व्यापारी और मिल मालिक ही रहेगा। हां, यदि वह अपने व्यक्तिगत उद्योगों, ठकुरसुहातियों और चापलूसियों के बल पर अपने वर्ग का अतिक्रमण कर एक बड़ा पूँजीपति और इस नाते समाज में प्रभावशाली बन जाये, तो भले ही क्लार्क के समीप पहुँचा जा सकता है, नहीं तो उसे क्लार्क की खुशामद ही करनी होगी। इस बात को प्रभुसेवक और सोफिया अच्छी तरह जानते हैं और इसलिये वे अपने को भारतीय मध्यवर्ग का अंग मानते हैं। ईसाइयों के शासक-वर्ग से उनका दूर

का ही संबंध है।

प्रेमचन्द ने भारतीय समाज का कितना सही अध्ययन किया था यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है। विभिन्न जातियों के तमाम बाहरी आवरणों को भेद कर उनका जो सही और नैसर्गिक रूप था, जो पुराने रूपों को मटियामेट करता हुआ अंकुर की नाईं फूट रहा था, जिसमें भविष्य की ताजगी और हरीतिमा थी, उसे प्रेमचन्द ने जाना था। किस प्रकार आगे आने वाले समाज में जाति-चरित्र की खुरदुरी सतहों को तोड़कर वर्ग-चरित्र का पौधा उगेगा, इसे प्रेमचन्द ने समझा था। यह वर्ग-चरित्र ही समाज का सही चरित्र होगा और उसी का अध्ययन समाज का वास्तविक अध्ययन होगा, ऐसा समझकर ही प्रेमचन्द ने हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों को जाति-दृष्टिकोण से नहीं, वर्ग-दृष्टिकोण से उपस्थित किया।

व्यक्ति और युग

प्रेमचन्द प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास उपन्यास-कला की कसौटी पर पूर्णतः खरे उतरते हैं।

साधारणतः माना जाता है कि उपन्यास व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का चित्र है। व्यक्ति के साथ युग तो लगा ही रहता है। लेकिन उपन्यास साधारणतः व्यक्ति को लेकर ही चलता है। व्यक्ति को चित्रित करते हुए उसके माध्यम से युग का चित्रण उसका अभीष्ट है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्वीकार करना होगा कि उपन्यासकार का उपजीव्य पहले व्यक्ति है, बाद में युग। लेकिन विश्व-वाङ्मय में ऐसे भी उपन्यास हैं जिनका लक्ष्य व्यक्ति-चित्रण न रहकर, युग-चित्रण रहा है। ऐसे उपन्यास कला की दृष्टि से निकृष्ट नहीं कहे गये हैं, वरन् उन्हें महाकाव्यात्मक उपन्यास (Epic Novel) कहकर विभूषित किया गया है। इस क्रम में टालस्टाय के 'वार एण्ड पीस' का उल्लेख समीचीन होगा। उल्लिखित उपन्यास में व्यक्ति उतने प्रमुख नहीं हैं जितना कि युग। ऐसा लगता है कि उपन्यासकार युग को मूर्त्त रूप देने के लिये ही व्यक्तियों को उठाता है। यदि बिना व्यक्तियों के युग का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता, तो उपन्यासकार

वैसा ही करता। पर ऐसा सम्भव न होने के कारण ही व्यक्ति युग की इकाई के रूप में चित्रित हुए।

'वार एण्ड पीस' जैसे उपन्यासों की एक अपनी परम्परा है। ऐसे उपन्यासों में जहाँ युग बड़ा प्रत्यक्ष और मूर्त्त होता है, वहाँ एक बात की आशंका भी रहती है। होता बहुधा यह है कि युग ही उपन्यास का प्रधान लक्ष्य रहने के कारण व्यक्ति गौण हो जाते हैं। पात्र युग-प्रवाह की रौ में बह-से जाते हैं। इसलिये जो उपन्यास को व्यक्ति-जीवन का सम्पूर्ण चित्र मान कर पढ़ते हैं, या उपन्यास के माध्यम से कुछ अविस्मरणीय चरित्रों की झाँकी पाना चाहते हैं, उन्हें ऐसे उपन्यासों से निराशा होती है। वे शिकायत करते हैं कि उपन्यास के प्रधान उपकरण व्यक्ति-चित्रण को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

युग का प्रत्यक्षीकरण तो इतर साधनों से भी सम्भव है। उसके लिये सम-सामयिक सामाजिक इतिहास का अनुशीलन अलम् है। उपन्यास को उस बखेड़े में क्यों डाला जाय?

युग अमूर्त्त होता है। वह बहुधा मिली-जुली प्रवृत्तियों, विचारधाराओं और नई-पुरानी धारणाओं का समन्वय है। इसलिये अमूर्त्त युग को चेष्टा करके भी उपन्यास में मूर्त्तित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा करना ही अभीष्ट हो, तो हमें व्यक्तियों को ही लेना होगा। उन्हीं के माध्यम से युग की प्रवृत्तियों, विचारधाराओं और धारणाओं को वाणी देनी होगी। लेकिन ऐसा होने पर बहुधा व्यक्ति ही अधिक जीवन्त, सत्य और मूर्त्त बनकर सामने आते हैं और युग व्यक्ति की पृष्ठभूमि बनकर रह जाता है।

युग के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण प्रधान लक्ष्य होने के कारण उपन्यासकार के समक्ष कई प्रलोभन और खतरें उपस्थित होते हैं। तब वह युग को प्रत्यक्ष करने के क्रम में बहुधा समसामयिक सामाजिक इतिहास का पोथा तैयार करने लगता है। व्यक्ति के स्थान पर समाज, वर्ग, जाति और धर्म ही उसके लक्ष्य हो जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति के लिये यदि वह व्यक्तियों को चुनता भी है तो उन्हें निर्जीव बनाकर छोड़ देता है। ऐसे उपन्यासकार पात्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व का गौरव न देकर उन्हें टाइप बनाकर छोड़ देते हैं। इसलिये बीसवीं

शताब्दी में ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन्होंने मात्र व्यक्ति के जीवन को ही उपन्यासों का प्रधान उपजीव्य माना। उन्होंने व्यक्ति के साथ लगे उसके युग को स्वीकारना आवश्यक नहीं समझा। ऐसे उपन्यासकारों ने व्यक्ति को उसके समस्त आन्तरिक द्वन्द्वों और मानसिक उहापोहों के साथ चित्रित किया। व्यक्ति के चेतन और अचेतन मानस का घटाटोप उपन्यासों का प्रधान वर्ण्य-विषय बना। ऐसे उपन्यासों से एक लाभ यह तो अवश्य हुआ कि उपन्यास व्यक्ति-मानस के सम्पूर्ण चित्र हमें देने लगे। व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं के विवरण हमें डिटेल्स में मिलने लगे। लेकिन यदि यह सत्य है कि व्यक्ति अपने ही समय की उपज है, तो ऐसे व्यक्ति पात्रों को लेकर उनके समय का ठीक-ठीक अनुमान सम्भव नहीं हुआ। ऐसे उपन्यासकार सिद्धान्ततः व्यक्ति को ही उपन्यास का प्रधान उपजीव्य मानने लगे और उन्होंने व्यक्ति के साथ लगे उसके युग को नकार-सा दिया। इस क्रम में उन्हें विकसित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से भी सहायता मिली। और तो और बहुत-से ऐसे दार्शनिक और विचारक भी हुए जिन्होंने व्यक्ति को ही समग्र युग और जगत् का केन्द्रीय तत्त्व माना और उसी की सत्ता और महत्ता की प्रतिष्ठा में लगे रहे।

प्रेमचन्द के समय तक व्यक्ति और समाज की महत्ता को घोषित करने वाले ये दोनों ही दृष्टिकोण पर्याप्त स्पष्ट हो चुके थे। प्रेमचन्द ने दोनों विचार-सरणियों की अच्छाइयों और बुराइयों का अनुमान किया था। एक उपन्यास-कार के नाते जहाँ वे उपन्यास को व्यक्ति के जीवन का सम्पूर्ण चित्र मानते थे वहाँ अपने समय के एक सचेत कलाकार होने के नाते यह भी अनुभव करते थे कि व्यक्ति समाज की ही एक इकाई है। उसे समाज से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता। अपनी दृष्टि में प्रेमचन्द ने कला और सामाजिकता या व्यक्ति और युग का ऐसा समन्वय उपस्थित किया कि उनके उपन्यासों में व्यक्ति और युग समतुल्य उपजीव्य बन कर उपस्थित हुए। इसी एक बात को लेकर वे अपने प्राग्भावी और पश्चातभावी उपन्यासकारों से भिन्न प्रमाणित हुए।

प्रेमचन्द ने व्यक्ति के साथ उसके प्रकृत परिवेश को लिया। ऐसा करने से स्वभावतः ही उन्हें युग और समाज की समस्त आकृतियों और प्रकृतियों से

उलझना पड़ा। जाति, वर्ग, धर्म, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था सबका थोड़ा-बहुत सार्थक और प्रासंगिक विवेचन इसी कारण सम्भव हुए। लेकिन इतना होते हुए भी प्रेमचन्द यह नहीं भूले कि उपन्यास व्यक्ति चरित्रों का सुन्दर अलबम है। उन्होंने उपन्यासकार के स्वाभाविक दायित्व को स्वीकारते हुए भी समाज के रेशे-रेशे को उघार कर देखा और उसका सर्वाङ्गीण सर्वेक्षण किया। यदि युग के परीक्षण और प्रत्यक्षीकरण का अतिरिक्त मोह उनमें नहीं होता, तो सम्भवतः वे युग को एक सजीव पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करके ही संतोष कर लेते। लेकिन हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने इससे अधिक किया। उनके उपन्यासों में जहाँ सुमन, कृष्णचन्द्र, निर्मला, तोताराम, धनिया, होरी, मालती, मेहता, रमानाथ, जालपा, सुखदा, अमरकान्त, चक्रधर, मनोरमा, वज्रधर, ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर जैसे सजीव पात्र मिलते हैं वहाँ समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रभूत मसाला भी इकट्ठा मिलता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द हिन्दी के सबसे पहले उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यास एक ओर तो सही अर्थ में उपन्यास हैं और दूसरी ओर भारतीय सामाजिक जीवन की विस्तृत समीक्षा।

प्रेमचन्द में एक ओर तो चित्रकार का संतुलित विवेक है जो मानता है कि रंगों और रेखाओं का प्रयोजन किसी निष्प्रयोजन अलंकृति में नहीं, वरन् सत्याकृति को उभारने और सजीव करने में है। इस क्रम में यह स्वीकारना होगा कि प्रेमचन्द अपनी विरल कूँची का प्रयोग एक कृपण चित्रकार की भाँति करते हैं। रंगों का विवेक तो उनमें इस सीमा तक है कि यदि वे किसी वस्तु-स्थिति या पात्र को चित्रित करने के क्रम में यह अनुभव करते हैं कि आकृति ठीक-ठीक उतरने को है, तो फिर उसे फिनिशिंग टच देने में न तो वक्त बर्बाद करना चाहते हैं और न रंगों और रेखाओं का तनिक-सा व्यर्थ प्रयोग उचित मानते हैं। रंग भरते-भरते और रेखायें खींचते-खींचते उन्हें जैसे ही इसका बोध होता है कि चित्र की प्रतीति इतने से ही सम्भव है, तो वे हठात् तूलिका रख देते हैं। लेकिन ऐसा करने पर भी ऐसा नहीं लगता कि चित्र अधूरा है या कि कोई रंग धुंधला या रेखा कमजोर है।

प्रेमचन्द के चित्र-कौशल का एक दूसरा पहलू भी है। उनकी चित्र-रचना

में परिपार्श्व-बोध इतना सबल और सुपुष्ट है कि चित्र देखते ही चित्र के काल और परिवेश का जीवन्त बोध होता है। जिस प्रकार अजन्ता और एलोरा की भित्ति चित्रों को देखकर उन चित्रों का काल और युग सहज ही अनुमेय है उसी प्रकार प्रेमचन्द के चरित्रों को देखकर उनका युग और समाज समस्त संगतिओं और असंगतियों के साथ प्रत्यभिज्ञेय बन जाता है। इसलिये प्रेमचन्द के लिये प्रयुक्त विशाल भारतीय समाज के कुशल चितेरे संज्ञा सर्वथा युक्तियुक्त है।

आधुनिक चित्रों का अध्ययन चित्र-रचना के निहित वाद, शैली या सिद्धान्त को स्पष्ट करता है, चित्र के साथ लगे युग और समाज को नहीं। ऐसा लगता है कि कला समाज से कटकर अलग हो गई है और वह रंगों और रेखाओं की एक नई दुनिया खड़ी कर रही है। कुछ चित्र और चित्रकार इस स्थिति के अपवाद भी हैं, पर सामान्यत: स्थिति यही है। लेकिन प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रों को देखकर यह तो पीछे मालूम होता है कि चरित्र किस धारणा के वशीभूत होकर सामने लाये गये, वरन् यह सत्य पहले प्रतिभासित होता है कि चरित्र-चित्रों के व्याज से ध्वनित होनेवाला समाज कौन-सा समाज है, कब का है और किस प्रकार का है, उसकी क्या सीमाएँ और सम्भावनाएँ हैं और वह किस ओर प्रधावित है। इस बोध के कारण ही प्रेमचन्द के चरित्र जहाँ शत-प्रतिशत औपन्यासिक चरित्र है वहाँ समाज की जीवन्त इकाई भी है।

नारी बनाम पुरुष

समाज को वर्गीकृत करने के जो विभिन्न आधार प्रचलित हैं उनमें वर्गाधार और वर्णाधार के बाद यौनाधार ही प्रमुख है। पहले समाज वर्गों का समूह है, उसके बाद जातियाँ आती हैं और तब स्त्रियों और पुरुषों का स्थान है।

विभिन्न वर्गों में कौनसा वर्ग समाज का मेरुदंड है और अन्य वर्गों की तुलना में उसकी क्या उपयोगिता है, यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। साथ ही यह भी देख चुके हैं कि प्रेमचन्द ने किस प्रकार इन विश्लेषण प्रसूत निष्कर्षों को अपने उपन्यासों में रूपायित किया है। इसके बाद समाज में जो विभिन्न जातियाँ हैं, उनके जो आपसी संबंध हैं, संख्या, शिक्षा-दीक्षा, मनोभाव और जीवन-स्तर के

कारण उनकी जो अलग-अलग सम्भावनाएँ और दुर्बलताएँ हैं उन्हें भी हम प्रेमचन्द के उपन्यासों के व्याज से देख चुके हैं। अब यहाँ इस बात की विवेचना ही हमारा लक्ष्य है कि प्रेमचन्द ने नारी और पुरुष इन दो कोटियों के अन्तर्गत जिन पात्रों और पात्रियों का चित्रण किया है उससे समाज के इन दो हिस्सों पर कैसा प्रकाश पड़ता है।

समाज में नारी और पुरुष दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। एक को प्रमुख और दूसरे को गौण मानना एक-दूसरे के प्रति अन्याय करना है। जिस प्रकार दो चक्कों से रथ आगे बढ़ता है उसी प्रकार नारी और पुरुष के सहयोग से स्वस्थ सामाजिक जीवन विकसित होता है। लेकिन प्रेमचन्द जिस समाज के कथाकार हैं उसकी स्थिति किंचित् भिन्न है। यहाँ स्पष्टतः ही नारियाँ असुविधाजनक स्थिति में हैं। उनका स्थान पुरुषों के बाद आता है। पुरुषों ने युग-युगों से उनका शोषण किया है और उन्हें अपदस्थ कर रखा है। वे अशिक्षित हैं, आर्थिक रूप से परतंत्र हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आहत हैं। इस अवस्था में स्वभावतः ही कथाकार के सामने यह समस्या आ खड़ी होती है कि एक ओर तो वह नारियों के शोषण का अंत करे, अशिक्षा और अवसाद मिटाये, उनका पक्ष ले, उन्हें जीवन की नई दिशाएँ दिखाये लेकिन ऐसा करते समय उन्हें ध्यान में रखना होगा कि पुरुषों को अपने विरुद्ध नहीं कर लें।

यह ठीक है कि हमारे समाज में युग-युगों से नारियों का शोषण होता आया है और उसके लिये दोषी पुरुष है लेकिन सारा दोष उसी के मत्थे मढ़ना ठीक नहीं होगा। इसमें कुछ दोष तो नारियों का भी है और कुछ परिस्थितियों का। इन बातों को ध्यान में रखकर ही कथाकार को आगे बढ़ना है। जहाँ पुरुष दोषी है वहाँ उसकी आलोचना करने का अधिकार कथाकार को है। लेकिन जहाँ स्त्रियों की अवनति का उत्तरदायित्व सीधे उस पर नहीं आता वहाँ उस पर प्रहार करना नाजायज है। यह लेखक के पूर्वग्रह और गलत धारणाओं का सूचक है। जहाँ नारियों की गलती हो वहाँ उनकी भी वैसी ही आलोचना होनी चाहिये, उन पर भी वैसा ही व्यंग्य किया जाना चाहिये जैसा कि पुरुष पात्रों पर किया जाता है। ऐसा होने पर ही कृति में वस्तुमूलकता का समावेश हो सकता है और

कथाकार समाज के इन दो हिस्सों के प्रति न्याय कर सकता है। नारियों के प्रति गलत सहानुभूति दिखलाने से जितना उनका लाभ नहीं होगा उससे अधिक हानि होने की सम्भावना है। प्रेमचन्द ने इन बातों को अच्छी तरह समझा था। जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है नारियों और पुरुषों की दुर्बलताओं पर छींटे कसने से वे बाज नहीं आये हैं। प्रेमाश्रम की श्रद्धा जैसी नारियों से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है। 'प्रेमशंकर' बहुत दिनों के बाद विदेश से शिक्षा प्राप्त कर लौटे हैं। घर आकर वे स्नान करते हैं, संध्या करते हैं और ऊपर भोजन करने जाते हैं। 'उन्हें आशा थी कि श्रद्धा भोजन परोसेगी, वहीं उससे भेंट होगी, खूब बातें करूँगा। लेकिन वह आशा पूरी न हुई। एक चौकी पर कालीन बिछा हुआ था, थाल परसा रखा था, पर श्रद्धा वहाँ स्वागत करने के लिये न थी।"[१] लेखक ने श्रद्धा की इस पति-विमुखता के कारणों का उल्लेख किया है। "श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परम्परागत बंधनों को तोड़ने के लिये जिस विचार स्वातंत्र्य और दिव्य ज्ञान की जरूरत थी उससे वह रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू अबला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा को सहन करना उसके लिये असम्भव था। जब से उसने सुना था कि प्रेमशंकर घर आ रहे हैं उसकी दशा उस अपराधी की-सी हो रही थी जिसके सिर पर नंगी तलवार लटक रही हो। आज जब से वह नीचे आकर बैठे थे उसके आँसू एक क्षण के लिये भी थमते नहीं थे। उसका हृदय काँप रहा था कि कहीं वह ऊपर न आते हों, कहीं वह आकर मेरे सम्मुख न खड़े हो जायें, मेरे अंग को स्पर्श न कर लें। मर जाना इससे कहीं आसान था।"[२]

ऐसी नारियाँ स्वयं ही अपने पैरों में बेड़ियाँ डाल लेती हैं और जीवन भर रोती-विसूरती हैं। इनकी इस करुण दशा के लिये पुरुष नहीं, वास्तव में ये ही जवाबदेह हैं। साधारण लेखक इनकी हीन दशा देखकर द्रवित हो जा सकता है और पाठकों से नाजायज सहानुभूति की माँग कर सकता है। लेकिन इससे वस्तु-

---

(१) पृ० १२०। (२) पृ० १२३-२४।

स्थिति साफ नहीं होती। वस्तुवादी कथाकार के लिये यह आवश्यक है कि वह समाज के सभी हिस्सों पर खुली नजर डाले और जहाँ भी असंगतियाँ दृष्टिगत हों उन पर तीखी रोशनी फेंके। प्रेमचन्द ने ऐसा ही किया है।

प्रेमचन्द के बहुत से पुरुष पात्र कन्या या कन्या के माता-पिता का शोषण करते हैं, तिलक और दहेज में लम्बी रकम और कीमती सामान लेकर शादी करना चाहते हैं। ऐसे धन-लोलुपों की आलोचना होनी ही चाहिये और प्रेमचन्द ने भी की है लेकिन उनके उपन्यासों में ऐसे नारी चरित्रों की भी कमी नहीं है जो जान-बूझकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये, धन और अधिकार के लिये, पति पर हावी होने के लिये ऐसे पुरुषों से शादी करने से नहीं हिचकतीं जिनकी पहले से दो-तीन पत्नियाँ हैं। 'कायाकल्प' की मनोरमा ऐसी ही है। उसकी "समझ में धन ही सुख और कल्याण का मूल है। धन संसार में सर्वप्रधान वस्तु है। जिन्दगी का कौनसा काम है जो धन के बिना चल सके।"[1] इसीलिये वह अधेड़ राजा विशालसिंह से विवाह करना चाहती है। वह कहती है—"मैं तो समझती हूँ कि जो दिन खाने-पहनने, सैर-तमाशे के होते हैं अगर वे किसी गरीब आदमी के साथ चक्की चलाने और चौका बरतन करने में कट गये तो जीवन का सुख ही क्या?"[2]

ऐसे नारी चरित्रों के व्याज से प्रेमचन्द ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि जहाँ पुरुष नारी का शोषण करता है वहाँ नारियाँ भी कभी-कभी बड़े मोहक और बेहतरीन ढंग से पुरुषों का शोषण करती हैं। राजा विशालसिंह द्वारा प्रेम प्रकाश करने पर मनोरमा कहती है—"मेरे लिये यह सौभाग्य की बात होगी कि आपकी प्रेम पात्री बनूँ, पर मुझे भय है कि मैं आदर्श पत्नी न बन सकूँगी। मेरी हार्दिक इच्छा सदैव यही रही है कि किसी बधन में न पड़ूं। पक्षियों की भाँति स्वाधीन रहना चाहती हूँ।...मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद हो भी न सकेगा। (मुस्कुराकर) मैं रानी तो बनना चाहती हूँ पर किसी राजा की रानी नहीं। हाँ, आपको प्रसन्न रखने की चेष्टा करूँगी।...मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं प्रेम करने के लिये नहीं, केवल विलास करने के लिये ही बनायी गई हूँ।"[3]

---

(१) पृ० १३५। (२) पृ० १३६। (३) पृ० १३९।

यहाँ मनोरमा स्पष्टवादिता से इसीलिये काम लेती है कि वह राजा विशाल-सिंह की कमजोरी से वाकिफ है। पंछी जाल में बुरी तरह फँस गया है। अब वह उस पर मनमानी करने के लिये स्वतंत्र है। जिस प्रकार साहूकार कर्जदार को सामने देखकर उसके सामने मनमानी शर्तें रखता है उसी प्रकार मनोरमा भी इच्छित बातें कहती है।

राजा विशालसिंह से विवाह करने पर मनोरमा को धन और अधिकार तो मिल जाता है लेकिन जीवन का वास्तविक सुख अनजाना ही रह जाता है। अनेक सौतों से घिरी नारी का जीवन जैसा होना चाहिये वैसा ही जीवन मनोरमा का है। यही कारण है कि जो मनोरमा अपने को विलास के लिये ही बनाई गई मानती थी उसके जीवन में कल्पनातीत परिवर्तन होता है। उसकी सांसारिकता लुप्त हो जाती है और वस्त्राभूषणों से प्रेम नहीं रह जाता। मनोरमा जैसे चरित्रों के इस प्रकार के परिवर्तन से प्रभावित होकर गलत ढंग के पाठकों के मन में सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है, वे मनोरमा के तप और त्याग की सराहना कर सकते हैं लेकिन विचार करके देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि मनोरमा सहानुभूति की पात्री नहीं है। वह रियासत में वेगार बन्द करवा देती है, लोगों को मुंह माँगा दान देती है, बहुत कुछ सुधार भी करती है लेकिन इससे क्या? उसने धन और अधिकार के प्रलोभन के सामने झुककर नारीत्व को जो क्षति पहुँचाई है उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। यदि वह स्वाधीन होकर संघर्ष करती हुई यह सब कर सकती तो पाठकों की प्रशंसा की पात्री होती।

मनोरमा ने जो कुछ किया इसके लिये न तो परिस्थिति जबावदेह है और न राजा विशालसिंह या उसके पिता। वह खुद ही सुख-सुविधा और अधिकार-लिप्सा के कारण उस दलदल में फँसी जहाँ रोहिणी, वसुमती और रामप्रिया पहले से फँसी छटपटा रही थीं। इस हालत में उसे प्रेमचन्द जैसे लेखक की सहानुभूति मिल ही नहीं सकती। वास्तव में ऐसे ही चरित्र लेखक की अग्नि परीक्षा लेते हैं। यदि लेखक का दृष्टिकोण भावुकतामूलक हुआ तो वह ऐसे चरित्रों के भुलावे में आ जाता है और गलत विश्लेषण करता है और गलत निष्कर्ष देता है। प्रेमचन्द इस कठिनाई से बच सके हैं यह स्पष्ट करता है कि

उनकी दृष्टि साफ और दिमाग सुलझा हुआ था।

यह सही है कि पुरुषों की तुलना में अधिकतर नारियों का ही शोषण हुआ है लेकिन हर वर्ग में ऐसी नारियाँ भी हैं जो मौके-बेमौके पुरुषों का ही शोषण करती हैं। 'रंगभूमि' की जैनब और रफिया ऐसी ही हैं। ये दोनों ताहिर अली की सौतेली मां हैं और विधवा हैं। ताहिर अली के बारे में कहा गया है—"ताहिर अली धैर्यशील और विवेकी मनुष्य थे।...रोज नमाज के पाबन्द और नीयत के साफ थे। हराम की कमाई से कोसों भागते थे। उनकी मां तो मर चुकी थीं, पर दोनों विमाताएँ जीवित थीं। विवाह भी हो चुका था। स्त्री के अतिरिक्त एक लड़का था साबिर अली और एक लड़की नसीमा। इतना बड़ा कुटुम्ब था और तीस मासिक आय। इस मँहगी के समय में जबकि इससे पचगुनी आमदनी में सुचारु रूप से निर्वाह नहीं होता उन्हें बहुत कष्ट झेलने पड़ते थे, पर नीयत खोटी न थी।"[१] ताहिर अली के चरित्र की ये विशेषताएँ तब स्पष्ट हो जाती हैं जब नायकराम और बजरंगी ताहिर अली को सूरदास की जमीन के मामले में रिश्वत देना चाहते हैं। वह कहता है—"पंडा जी ऐसी बातें न कहिये। मैं मालिक की निगाह बचाकर एक कौड़ी लेना भी हराम समझता हूँ। वह अपनी खुशी से जो कुछ दे देंगे हाथ फैलाकर ले लूंगा, पर उनसे छिपाकर नहीं। खुदा उस रास्ते से बचाये।"[२]

ताहिर अली के इस निश्चय को जानते हुए भी जैनब अपनी हरकत से बाज नहीं आती। वह बजरंगी को अपने पास बुलाती है और कहती है—"तुम भी तो गंवार आदमी हो, उनसे क्या कहने गये। ऐसी बातें मरदों से कहने की थोड़ी ही होती हैं। हमसे कहते हम तय करा देते।"[३] इसी समय रफिया भी आ जाती है और पचास-साठ रुपये में बात तय हो जाती है। इनकी इन हरकतों का परिणाम पीछे चलकर ताहिर अली को भुगतना पड़ता है।

ऐसी नारियाँ शोषण में इतनी दक्ष और पटु हैं कि इनकी बातें सुनते ही बनती हैं। जैनब अधिक धूर्त और मक्कार है इसलिये रफिया से कहती है—

---

(१) पृ० ६६। (२) पृ० ६८। (३) पृ० ६६।

"तुम बेसब्र हो जाती हो। अभी चमारों से दो पैसे की खाल लेने पर तैयार हो गई। मैं दो आने लेती और वे खुशी से देते। यही अहीर पूरे सौ गिनकर जाता। बेसब्री से गरजमन्द चौकन्ना हो जाता है। समझता है शायद हमें बेवकूफ बना रही हैं। जितनी ही देर लगाओ, जितनी बेरुखी से काम लो उतना ही एतबार बढ़ता है।"[१]

ऐसी नारियाँ केवल गैरों का ही शोषण नहीं करती अपने सगे-संबंधियों से भी बुरी तरह पेश आती हैं। इनकी नाजायज हरकतों के कारण ताहिर अली को मार खानी पड़ी और वे बुरी तरह घायल हुए। इस मौके से लाभ उठाकर जैनब बजरंगी की पत्नी जमुनी से पच्चीस रुपये ऐंठ लेती है। लेकिन जब ताहिर अली उससे कहते हैं—"अगर आपके पास कुछ रुपये हों तो मुझे कर्ज के तौर पर दे दीजिये। मेरे कंधों में बड़ा दर्द है, शायद हड्डी टूट गई है, डाक्टर को दिखाना चाहता हूँ मगर उसकी फीस के लिये रुपयों की जरूरत है। तो जैनब जवाब देती है—'बेटा, भला सोचो तो मेरे पास रुपये कहाँ से आयेंगे, तुम्हारे सिर की कसम खाकर कहती हूँ। मगर तुम डाक्टर को बुलाओ ही क्यों? तुम्हें सीधे साहब के यहाँ जाना चाहिये। यह हंगामा उन्हीं की बदौलत तो हुआ, नहीं तो यहाँ हमसे किसी से क्या गरज थी। एक इक्का मँगवा लो और साहब के यहाँ चले जाओ। वह एक रुक्का लिख देंगे तो सरकारी शिफाखाने में खासी तरह इलाज हो जायेगा। तुम्हीं सोचो हमारी हैसियत डाक्टर बुलाने की है।"[२]

केवल यही नहीं जब तक इन दोनों के बेटे नाबालिग रहते हैं तब तक तो ये ताहिर अली की कमाई पर मौज उड़ाती हैं लेकिन जैसे ही बेटे कमाने लायक होते हैं और कमाने लगते हैं ये ताहिर अली को छोड़कर अलग हो जाती हैं। ऐसी चालाक और धूर्त नारियों को शोषण के जो तौर-तरीके मालूम हैं, इनके जो हथकंडे हैं वे किसी पुरुष शोषक के तौर-तरीकों और हथकंडों से कम नहीं हैं। ऐसी नारियों की कृतघ्नता इस बात से और साफ हो जाती है कि पुरुष का शोषण तो विस्तृत क्षेत्र में चलता है और वह प्रायः अपने सगों का वैसा शोषण

---

(१) पृ० ७०। (२) पृ० ११६।

नहीं करता जैसा कि ये स्त्रियाँ करती हैं। इनके शोषण का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित होता है। टोले मुहल्ले और घर के लोगों को ही ये अपना निशाना बनाती हैं और उनके जीवन की हँसी-खुशी छीन लेती हैं। जिस प्रकार 'गोदान' के झींगुरी, परेश्वरी और दातादीन हैं उसी प्रकार रंगभूमि की जैनब और रफिया हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि जहाँ झींगुरी, परेश्वरी, दातादीन आदि गैर लोगों—होरी, धनिया आदि का शोषण करते हैं वहाँ ये नारियाँ अपने ही सगे ताहिर अली का शोषण करती हैं, उसकी कठिन कमाई का एक बड़ा हिस्सा चाय-पान और मिठाई में उड़ा देती हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसी नारियाँ भी आई हैं जो शोषण के क्षेत्र का पुरुष की तरह ही विस्तार करती हैं लेकिन शोषण में उन्हें आशातीत सफलता नहीं मिलती। 'गोदान' की दुलारी सहुआइन ऐसी ही है। पुरुष महाजनों की तरह वह भी सूद पर रुपया लगाती है और एक का डेढ़ वसूल करना चाहती है लेकिन उससे उधार लेने वाला होरी उसकी नारी प्रकृति और कमजोर नस से वाकिफ है। इसलिये शोषण की इच्छा रखते हुए भी वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शोषण के बाह्य क्षेत्र में पुरुषों से नारियों की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। हाँ, जहाँ वे अपने शोषण को गाँव-घर तक ही सीमित रखती हैं वहाँ उन्हें आशातीत सफलता मिलती है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने नारी और पुरुष को एक ही समाज के पहलू के रूप में चित्रित किया है। महाजनी सभ्यता के आधार पर टिका हुआ समाज ऐसे ही विकृत नारी-पुरुषों की सृष्टि करता है। इस सभ्यता का अनिष्टकारी प्रभाव दोनों पर पड़ा है। ऐसे समाज में नारियाँ बिल्कुल दूध की धोई हुई हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का कथन वस्तु-स्थिति से दूर जाना होता। इसलिये प्रेमचन्द ने ऐसा नहीं किया, अपने उपन्यासों में उनकी दृष्टि मुख्यतः सामाजिक समस्याओं पर ही रही है और चरित्र का सामाजिक पक्ष ही उनको आकर्षित करता रहा है। इसलिये यदि उनके नारी पात्रों में भावनात्मक पक्ष की प्रधानता न हो तो उनको दोष नहीं दिया जा सकता।

जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को थैली कमाने का एक जरिया समझता है

उसी प्रकार कुछ माताएँ भी हैं जो पुत्री को धन, सुख-सुविधा और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन मानती हैं। 'रंगभूमि' की मिसेज सेवक ऐसी ही हैं। उनकी नजर मि० क्लार्क पर लगी है क्योंकि वे सरकारी मुलाजिम हैं और उसके पति मि० सेवक को अनेक प्रकार की सुविधाएँ दे सकते हैं। यदि उनका और सोफिया का संबंध हो जाता है तो मिसेज सेवक और मिस्टर सेवक का प्रवेश उस समाज में आसानी से हो सकता है जहाँ वे ऐंग्लो-इंडियन होने के कारण कठिनाई से पहुँच सकते हैं। जिस प्रकार निर्मला में डॉ० भुवनमोहन के पिता को इसी बात की चिन्ता है कि वे अपने पुत्र का संबंध ऐसी जगह ठीक करें जहाँ से उन्हें पूरा धन मिले चाहे लड़की कैसी भी हो, उसी प्रकार मिसेज सेवक का ध्यान क्लार्क के महत्त्वपूर्ण पद पर है इस बात पर नहीं कि सोफिया क्लार्क से प्रेम करती है या नहीं या उसके साथ उसका जीवन सुखी होगा या नहीं।

प्रेमचन्द ने जहाँ पुराने आदर्शों के बोझ से दबती पिसती और कराहती नारियों, जैसे निर्मला, रतन आदि का चित्रण किया है वहाँ वे उन नारियों को भी नहीं भूले हैं जो पुराने आदर्शों को ढोना व्यर्थ समझती हैं। इस दृष्टि से यह आक्षेप कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में आधुनिकताओं का प्रवर्तन नहीं हुआ है व्यर्थ प्रतीत होता है। प्रेमचन्द ने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में ही नारी का वह रूप चित्रित किया है जो पुरुषों के सामने घुटने नहीं टेकता, दया की भीख नहीं माँगता वरन् उनकी हर नाजायज हरकत का साहस से विरोध करता है। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा और 'सेवासदन' की सुमन ऐसी ही नारियाँ हैं। यह नारी का आधुनिक रूप है जिसे प्रेमचन्द ने पहचाना था। लेकिन जो नारी के आधुनिक रूप से कुछ दूसरा ही अर्थ लेते हैं उन्हें 'मंगलसूत्र' की मिस बटलर, मिस तिब्बी, मिस कामत और 'गोदान' की मिस मालती और उनकी बहनें सरोज और वरदा, लेडी हुक्कू और मिस सुलताना आदि पर ध्यान देना होगा। उदाहरण के लिये कुछ के जीवन-चित्र लीजिये—

"सरोज बी० ए० में पढ़ती थी, दुबली-सी, लम्बी, पीली, रूखी, कटु, उसे किसी की कोई बात पसन्द न आती थी। हमेशा ऐब निकालती रहती थी। डॉक्टरों की सलाह थी कि वह कोई परिश्रम न करे और पहाड़ पर रहे

लेकिन घर की स्थिति ऐसी न थी कि उसे पहाड़ पर भेजा जा सकता है।" (पृ० २१०)

"वरदा को सरोज से इसलिये द्वेष था कि सारा घर सरोज को हाथों में लिये रहता था। वह चाहती थी जिस बीमारी में इतना स्वाद है, वह उसे ही क्यों नहीं हो जाती। गोरी-सी, गर्वशील, स्वस्थ चंचल आँखों वाली बालिका थी जिसके मुख पर प्रतिभा की झलक थी। सरोज के सिवा उसे सारे संसार से सहानुभूति थी। सरोज के कथन का विरोध करना उसका स्वभाव था।"

यदि आधुनिक घरों का चित्र देखना हो तो मुनिया की इन बातों पर ध्यान दीजिये—"आजकल बड़े घरों की विचित्र लीला है। जिस मुहल्ले में मेरी ससुराल है उसी में गपड़ू गपड़ू नाम के कासमीरी रहते थे। बड़े भारी आदमी थे। उनकी तीन लडकियाँ थीं। कोई बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस की होंगी। एक से एक सुन्दर। तीनों बड़े कालिज में पढ़ने जाती थीं। एक कालिज में पढ़ाती भी थी। तीन सौ का महीना पाती थी। सितार वह सब बजावें, हरमुनिया सब बजावें, नाचें वह, गावें वह लेकिन ब्याह कोई न करती थी। एक बार मैंने बड़ी बीबी से पूछा तो हँसकर बोलीं—हम लोग यह रोग नहीं पालते। मगर भीतर ही भीतर खूब गुलछर्रे उड़ाती थीं, जब देखूँ दो-चार लौंडे उनको घेरे हुए हैं। जो सबसे बड़ी थी वह कोट पतलून पहनकर घोड़े पर सवार होकर मर्दों के साथ सैर करने जाती थी। सारे शहर में उनकी लीला मशहूर थी। गपड़ू बाबू सिर नीचा किये जैसे मुँह में कालिख-सी लगाये रहते थे। लड़कियों को डाँटते थे, समझाते थे पर सब की सब खुल्लम-खुल्ला कहती थीं—"तुमको हमारे बीच में बोलने का कुछ मजाल नहीं है, हम अपने मन की रानी हैं जो हमारी इच्छा होगी वह हम करेंगे।" (पृ० ६५)

यदि आधुनिक महिला क्लबों का चित्र देखना हो तो गोदान की इन पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—"वहाँ कितनी ही शिक्षित, ऊँचे कुल की महिलाएँ आती थीं। उनमें वोट और अधिकार और स्वाधीनता और नारी जागृति की खूब चर्चा होती थी, जैसे पुरुषों के विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा जा रहा हो। अधिकतर वही देवियाँ थीं जिनकी अपने पुरुषों से न पटती थी, जो नयी शिक्षा पाने के कारण

पुरानी मर्यादाओं को तोड़ डालना चाहती थीं। कई युवतियाँ भी थीं जो डिग्रियाँ ले चुकी थीं और विवाहित जीवन को आत्म-सम्मान के लिये घातक समझकर नौकरियों की तलाश में थीं।" (पृ० ४३६)

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द जीवन की आधुनिक गतिविधि से अपरिचित नहीं थे। समाज में आधुनिकता का जो ध्वंसात्मक और निर्माणात्मक रूप कार्य कर रहा है उसे उन्होंने समझा था। इस क्रम में उसे उन्होंने उसी अनुपात में चित्रित किया जो समाज में था। जब आज भी विशाल भारतीय समाज में ये आधुनिक रूप-रंग छिटपुट रूप में ही देखे जाते हैं तो प्रेमचन्द के समय तक इनका अल्प मात्रा में होना स्वाभाविक ही था।

आधुनिकताओं में प्रेमचन्द ने उनके दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। एक ओर तो उनका वह रूप चित्रित है जो अकारण ही पुरुषों का विरोध करता है, दूसरी ओर उनका वह रूप भी चित्रित है जो रानी मीनाक्षी के रूप में सामने आता है। "एक दिन वह क्रोध में आकर हंटर लिये दिग्विजयसिंह के बंगले पर पहुँची। शोहदे जमा थे और वेश्या का नाच हो रहा था। उसने रणचंडी की भाँति पिचाशों की इस चंडाल चौकड़ी में पहुँचकर तहलका मचा दिया। हंटर खा-खाकर लोग इधर-उधर भागने लगे। उसके तेज के सामने वह नीच शोहदे क्या टिकते। जब दिग्विजयसिंह अकेले रह गए तो उसने उन पर भी सड़ासड़ हंटर जमाने शुरू किये और इतना मारा कि कुँवर साहब बेदम हो गये। वेश्या अभी तक कमरे में दबकी खड़ी थी। अब उसका नम्बर आया। मीनाक्षी हंटर तानकर जमाना ही चाहती थी कि वेश्या उसके पैरों पर गिर पड़ी और रोकर बोली—'दुलहिनजी, आज आप मेरी जान बख्श दें। मैं फिर कभी यहाँ न आऊँगी। मैं निरपराध हूँ।" (पृ० ४४०)

यहाँ आधुनिक नारी का आक्रामक (Aggressor) रूप चित्रित है। लेकिन उसका यह आक्रमण अकारण नहीं है। बहुत सहनशीलता का परिचय देने के बाद ही उसके धैर्य ने यह रूप धारण किया है। यदि कोई यह कहे कि रानी मीनाक्षी राजपरिवार की वधू होने के कारण ही ऐसा कर सकी तो मैं कहना चाहूँगा कि हिन्दी उपन्यासों में बहुत बाद तक उदाहरण के लिये भगवतीचरण वर्मा के

उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में राजपरिवार की वधू को (उदाहरण के लिए उमानाथ की पत्नी महालक्ष्मी को) एकदम निःसहाय दिखाया गया है। वे सतीत्व के बोझ के नीचे दबती कराहती हैं, पर पति के सामने तनकर खड़ी नहीं होतीं। पुरुष के सामने इस प्रकार तनकर खड़ी होने का साहस नारी को तभी होता है जब वह आधुनिक चेतना से सम्पन्न हो। प्रेमचन्द ने मीनाक्षी के चरित्र में यही साहस-युक्त आधुनिक चेतना दिखलाई है। वास्तव में यह सोचकर आश्चर्य होता है कि जिस लेखक ने श्रद्धा और गोविन्दी जैसे चरित्र रचे हैं उसी ने रानी मीनाक्षी का भी निर्माण किया है। एक ओर तो प्रेमचन्द की कुछ नारी पात्रियाँ भाग्य की विडम्बना पर बैठी रोती बिसूरती हैं, पति को मन ही मन बुरा-भला कहती हैं, घर छोड़ने के लिये बाध्य होती हैं दूसरी ओर कुछ ऐसी नारी पात्रियाँ हैं जो रणचंडी का रूप धारण करती हैं, हंटरों का सहारा लेती हैं और पति की गलत बातों का जवाब निर्मम वाक्यों और कठोर शब्दों में देती हैं। ऐसी नारियाँ प्रेमचन्द के उपन्यासों में कम हैं पर हैं तो, और हरेक वर्ग में हैं उदाहरण के लिये मध्यवर्ग में सुमित्रा और सुधा हैं, उच्चवर्ग में रानी मीनाक्षी हैं और निम्नवर्ग में धनिया है। स्वयं प्रेमचन्द-कालीन समाज में, और आज के समाज में भी ऐसी नारियाँ कम हैं लेकिन कम होने पर भी ये आधुनिक नारी के वास्तविक रूप हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द ने उन्हें बहुत पहले जाना-माना था।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में विभिन्न वर्ग की नारियों के विविध रूपों का खुलकर वर्णन किया है। यदि निम्नवर्ग को ही लें तो उसमें 'गोदान' की मुनिया, सिलिया, धनिया, सहुआइन, नोहरी, पुन्नी, सोना आदि कितनी ही प्रकार की नारियाँ हैं। इन सभी नारियों का वर्ग एक है, परिवेश एक है लेकिन स्वभाव और प्रकृति भिन्न हैं। यह वैविध्य सिर्फ एक कृति में है। यदि उनके सभी उपन्यासों की निम्नवर्गीय नारियों को लें तो और भी आश्चर्य होगा। इस दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रेमचन्द के बाद जो अनेक उपन्यास-कार हुए, जिनमें से कुछ की तुलना प्रेमचन्द से की जाती है और उन्हें प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय दिया जाता है वे भी निम्नवर्गीय नारी चरित्रों के इस वैविध्य को प्रदर्शित नहीं कर सके हैं—चाहे वे नागार्जुन हों या फणीश्वर-

नाथ, रेणु या हिमांशु, श्रीवास्तव या अमृतलाल नागर। प्रेमचन्द के बाद भी हिन्दी उपन्यास साहित्य में ताई (बूँद और समुद्र), लछमी कोठारिन (मैला आँचल) और परबतिया (नदी फिर बह चली) जैसे चरित्रों की रचना हुई है लेकिन इन चरित्रों के सृजनहारों ने हमें प्रेमचन्द की तरह नारी चरित्रों का रंगबिरंगा अलबम पेश नहीं किया। चरित्रों का यह वैविध्य प्रेमचन्द के व्यापक अनुभव और विस्तृत सृजनशीलता का द्योतक है।

जो बातें ऊपर निम्नवर्ग के नारी चरित्रों के बारे में कही गई हैं, ठीक वे ही बातें मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के नारी चरित्रों के बारे में नहीं कही जा सकतीं। यद्यपि यह सही है कि एक छोटे-से उपन्यास 'मंगलसूत्र' में भी मध्यवर्गीय नारी चरित्रों का वैविध्य दृष्टिगत होता है। वहाँ एक ओर मिस बटलर, मिस तिब्बी और मिस कामत हैं दूसरी ओर पंकजा, प्रष्या और शैव्या हैं। इसी प्रकार यदि 'गोदान' के मध्यवर्गीय नारी चरित्रों को लिया जाय तो एक ओर मालती, सरोज, वरदा आदि हैं दूसरी ओर गोविन्दी और गोमती जैसे चरित्र हैं।

प्रेमचन्द के नारी चरित्रों में सतर्कता, व्यवहार कौशल, तर्क और साहस चाहे जितना हो लेकिन वे मूलतः नारी है क्योंकि नारियों के कुछ मूलभूत गुण उनमें हर हालत में कायम हैं। संसार को नाना प्रपंचों के बीच उन्हें एक से एक कटु अनुभव होते हैं लेकिन फिर भी वे नारी के मूल चारित्रिक गुणों को नहीं छोड़ सकी हैं। उदाहरण के लिये नारी सुलभ गुण भोलापन और सरसता लीजिये। यदि प्रेमचन्द के एकदम प्रारम्भिक उपन्यासों को ही लीजिये तो उनके नारी चरित्रों में यह स्पष्ट है। 'प्रतिज्ञा' के लाला बदरीप्रसाद पूर्णा की असहायावस्था से कातर होकर उसे अपने घर में स्थान देते हैं। लेकिन उनके पुत्र कमलाप्रसाद की आँखें उसके भोले-भाले असहाय यौवन पर हैं और वह उसे धोखा देने के लिये एक से एक तिकड़म रचता है। पूर्णा को निकट पाकर उसके हृदय में कामवासना की प्रचंड ज्वाला धधक उठती है। वह दोनों हाथ खोले हुए पूर्णा की ओर बढ़ता है। उसकी इस दशा को देखकर, जो पूर्णा अब तक भय से काँप रही थी, आग्नेय नेत्रों से उसकी ओर देखती है। "उसकी दृष्टि में भीषण संकट तथा भय था मानो वह कह रही थी—खबरदार इधर एक जौ भर भी बढ़े तो हम दोनों

में से एक का अन्त हो जायेगा। इस समय पूर्णा को अपने हृदय में एक असीम शक्ति का अनुभव हो रहा था, जो सारे संसार की सेनाओं को अपने पैरों तले कुचल सकती थी। उसकी आँखों की वह प्रदीप्त ज्वाला, उसकी वह बँधी हुई मुट्ठिय और तनी हुई गर्दन देखकर कमला ठिठक गया। होश आ गये, एक कदम भी आगे बढ़ने की उसे हिम्मत न पड़ी।"[१]

अब यहाँ पर कमलाप्रसाद एक दूसरी ही चाल चलता है। वह एक स्वांग का सहारा लेकर पूर्णा के भोलेपन से लाभ उठाना चाहता है। वह कहता है—"अवश्य ही पूर्व जन्म में तुमसे मेरा कोई घनिष्ठ संबंध रहा होगा। कदाचित् उस जन्म में भी मेरी यह लालसा अतृप्त ही रही होगी। तुम्हारे चरणों पर गिरकर एक बार रो लेने की इच्छा से ही मैं तुम्हें लाया। बस यह समझ लो कि मेरा जीवन तुम्हारी दया पर निर्भर है। अगर तुम्हारी आँखें मेरी तरफ से यों ही फिरी रहीं तो देख लेना एक दिन कमलाप्रसाद की लाश या तो इसी कमरे में तड़फती हुई पाओगी या गंगातट पर, मेरा यह निश्चय है।"[२]

कमलाप्रसाद की इन भुलावेभरी बातों पर पूर्णा विश्वास कर लेती है। इसलिये उसका क्रोध शान्त हो जाता है। उसकी यह अवस्था देख धूर्त कमलाप्रसाद फिर कहता है—"प्रेम ईश्वरी प्रेरणा है, ईश्वरी संदेश है। प्रेम के संसार में आदमी की बनाई सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई मूल्य नहीं। विवाह समाज के संगठन की केवल आयोजना है। क्या ईश्वर ने तुम्हें इसलिये बनाया है कि दो-तीन साल प्रेम का सुख भोगने के बाद आजीवन वैधव्य की कठोर यातना सहती रहो?......वह तुम्हें उबारना चाहते हैं, तुम्हें जीवन के आनन्द में मग्न कर देना चाहते हैं। यदि उनकी प्रेरणा न होती तो मुझ जैसे दुर्बल मनुष्य के हृदय में प्रेम का उदय क्यों होता। जिसने किसी स्त्री की ओर कभी आँख उठाकर नहीं देखा वह आज तुमसे प्रेम की भिक्षा क्यों माँगता होता? मुझे तो यह दैव की स्पष्ट प्रेरणा मालूम हो रही है।"[३]

भोली-भाली पूर्णा पर कमलाप्रसाद की इन लच्छेदार बातों का अनुकूल

---

(१) पृ० ५९। (२) पृ० ६०। (३) पृ० ६१।

भाव पड़ता है। लेखक कहता है—"पूर्णा अब तक द्वार पर चिपकी खड़ी थी। अब द्वार से हटकर वह फर्श पर बैठ गई। कमलाप्रसाद पर पहले उसे जो सन्देह हुआ था—वह अब मिटता जाता था। पर तन्मय होकर उसकी बातें सुन रही थी।"

कमलाप्रसाद इस मौके से लाभ उठाता है और उसका हाथ पकड़ कर उसे कुर्सी पर बैठाता है। फिर वह अपनी लच्छेदार बातों को आगे बढ़ाता है और पूर्णा के कपोलों को उँगली से छू लेता है। भोली-भाली पूर्णा उसकी चालों को नहीं समझ पाती और जाल में मजबूती से फँसती चली जाती है। फिर तो कमलाप्रसाद उसे अपनी भेंट में दी हुई साड़ी पहनने के लिये विवश कर देता है।

लेकिन बात इतनी दूर आगे बढ़कर भी बनती नहीं। कमलाप्रसाद बातें चाहे जितनी मीठी करे, पूर्णा चाहे जितनी नादान और भोली हो लेकिन अंत अंत तक वह सम्भल जाती है। उसका भोलापन उसे कुछ देर के लिये भ्रम में अवश्य रखता है लेकिन आखिर में उसकी आँखें खुल जाती हैं और कमलाप्रसाद के चंगुल से निकल भागती है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने नारियों को नारी सुलभ गुणों के साथ—यहाँ तक कि उनकी स्वाभाविक दुर्बलता के साथ चित्रित किया है। यही बात 'गबन' की जालपा के संबंध में भी सही है। जब वह पहली बार ससुराल आती है तो प्रदर्शनप्रिय रमानाथ उनके सामने खूब जीट हाँकता है। जालपा अपने भोलेपन के कारण वास्तविकता को नहीं भाँप सकती और रमानाथ की बातों का विश्वास कर लेती है। यह समझकर कि उसकी ससुराल वाले पैसे वाले हैं वह चन्द्रहार की कामना करती है, पर पीछे चलकर अपनी इस कामना का उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। यदि जालपा में नारी सुलभ भोलापन नहीं होता, यदि वह पति की बातों पर सहज ही विश्वास नहीं कर लेती, यदि उसमें वास्तविकता को पकड़ने की शक्ति होती तो उसके पति को बुरे दिन न देखने पड़ते।

जिस सफाई से रमानाथ जालपा के गहने चुरा लेता है और जालपा को उस पर या घरवाजों पर सन्देह नहीं होता उससे भी स्पष्ट है कि जालपा भोले स्वभाव की है। ऐसी ही घटना 'निर्मला' में निर्मला के साथ घटी है लेकिन वह तुरंत

ही सतौले बेटे पर शक करती है। लेकिन जालपा को कोई सन्देह नहीं होता, क्योंकि रमानाथ ने बड़े कौशल के साथ उसके भोलेपन से लाभ उठाया था। इससे स्पष्ट है कि जालपा चतुर चाहे जितनी हो, पति को आगे चलकर नाना प्रकार के उपाय करके कठिनाइयों से चाहे जैसे भी उबारे लेकिन पहले तो पति और ससुर की धूर्तता का शिकार हो ही जाती है। यह भोलापन प्रेमचन्द के मध्यवर्गीय नारी-चरित्रों में ही है, यह बात नहीं, उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की नारियों में भी यह चारित्रिक सरलता है। उदाहरण के लिये हम 'प्रेमाश्रम' की गायत्री और 'गोदान' की धनिया के चरित्रों का विश्लेषण कर सकते हैं।

गायत्री ज्ञानशंकर की साली है और विधवा होने के कारण खुदमुख्तार है। वह जमींदारी की देखभाल के लिये ज्ञानशंकर को मैनेजर नियुक्त करती है। लेकिन ज्ञानशंकर धूर्त और स्वार्थी है और उसकी दृष्टि गायत्री की जायदाद पर तो है ही, वह उसके रूप और यौवन से भी लाभ उठाना चाहता है। इसके लिये वह धार्मिक पाखंड का सहारा लेता है। विधवा होने के कारण गायत्री का झुकाव धर्म की ओर है। ज्ञानशंकर उसकी इस कमजोरी का लाभ उठाना चाहता है। वह एक अभिनय की व्यवस्था करता है जिसमें गायत्री राधिका का अभिनय करने के लिये तैयार की जाती है और वह कृष्ण के अभिनय के लिये प्रस्तुत होता है। यह अभिनय एक धोखे की टट्टी है जिसकी ओट से ज्ञानशंकर गायत्री का शिकार करना चाहता है। लेकिन भोली-भाली गायत्री उसकी इस चाल को तब तक नहीं भाँप सकती जब तक कि ज्ञानशंकर मंच पर वासना के वशीभूत होकर अपना होशो-हवाश नहीं खो बैठता। इस समय ज्ञानशंकर की दशा देखने लायक है—"साँस बड़े वेग से चल रही थी। पाँव काँप रहे थे, नेत्रों में विषय प्रेरणा झलक रही थी और मुख से एक भयंकर संकल्प प्रकट होता था मानो कोई हिंसक पशु अपने शिकार पर टूटने के लिये अपनी शक्तियों को एकाग्र कर रहा हो। वास्तव में ज्ञानशंकर ने छलाँग मारने का निश्चय कर लिया था। उसी एक छलाँग में वह सौभाग्य शिखर पर पहुँचना चाहते थे, इसके लिये महीनों से तैयार हो रहे थे, इसीलिये उन्होंने यह ड्रामा खेला था, इसीलिये उन्होंने यह स्वाँग भरा था। छलाँग मारने का यही अवसर था। इस वक्त चूकना

पाप था।"[१]

ज्ञानशंकर की यह दशा देखकर गायत्री चौकन्नी हो जाती है और मंच से खिसक जाती है। अपने भोलेपन के कारण वह पतन की गर्त के कगार पर पहुँच चुकी थी लेकिन उसकी भयंकरता शीघ्र ही प्रत्यक्ष हो जाती है और वह सम्हल जाती है। लेकिन नारी सुलभ दुर्बलता यहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ती। अगले ही क्षण वह सोचती है—"ज्ञानशंकर मन में क्या कहते होंगे? हाँ! मैं भक्ति के वेग में अपने को न भूल सकी।" इन उद्धारणों से स्पष्ट हो जाता है कि गायत्री के चरित्र में प्रेमचन्द ने नारी सुलभ गुणों—भोलापन और सरलता आदि का उचित समन्वय किया है।

धनिया प्रेमचन्द की ग्रामीण नारी चरित्रों में सबसे तेज़-तर्रार है। उसके सामने बड़ों-बड़ों की हेकड़ी गुम हो जाती है। पुलिसवालों से भी वह दबती नहीं। उसकी जुबान के सामने कौन ठहर सकता है। गाली से बातें करना कोई उससे सीखे। लेकिन ऐसी धनिया भी नारी सुलभ भोलेपन से रिक्त नहीं है। जब होरी भोला को यह वचन देकर कि वह उसकी सगाई ठीक करवा देगा, उससे गाय उधार लेने की बात करता है तो बातों ही बातों में उससे यह भी कह देता है कि उसके पास बहुत भूसा है जिसमें से कुछ भोला को, उसके जानवरों के लिये, दे देगा। जब यह बात धनिया को मालूम होती है तो वह इसे पसन्द नहीं करती। भूसा सेंत-मेत में देना उसे अच्छा नहीं लगता। जीवन की व्यावहारिता उससे माँग करती है कि वह भूसे की कीमत ठहरा ले और गाय की कीमत में से उसकी कटौती कटवा ले। जब गोबर होरी से यह कहता है कि "अस्सी रुपये की गाय है, हमसे बीस रुपया का भूसा ले लें और गाय हमें दे दें। साठ रुपये रह जायेंगे। वह हम धीरे-धीरे दे देंगे" तो वह धनिया के मन की ही बात कहता है। लेकिन होरी तो पहले ही वचन हार चुका है। उसे भोला को भूसा यों ही देना है। इसके लिये वह वाक्छल का सहारा लेता है। धनिया से भोला के बारे में कहता है—लेकिन उसकी भलेमंसी को भी तो देखो। मुझसे

---

(१) पृ० ३३६।

जब मिलता है तेरा बखान ही करता है—ऐसी लछमी है, ऐसी सलीकेदार है।" होरी की इस बात का धनिया पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है और उसके मुख पर स्निग्धता छलक पड़ती है। फिर तो उसके स्वभाव की सरलता और भोलापन इतना ज़ोर मारते हैं कि वह घर आये भोला का विधिवत् सत्कार करवाती है और भूसा देने में कंजूसी से काम नहीं लेती। केवल इतना ही नहीं वह गोबर को भोला के घर भूसा पहुँचा आने के लिये कहती है। यह है धनिया के चरित्र की सरलता और भोलापन। जो धनिया इतनी व्यावहारिक है कि पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ने से नहीं चूकती। दूसरों की नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती वह अपने नारी-सुलभ भोलेपन के कारण भूसे का एक अच्छा हिस्सा दान में दे देती है।

प्रेमचन्द के नारी चित्रण पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नारियों का वस्तुमूलक चित्रण किया है। नारियों के प्रति शरत् या प्रसाद की तरह उनके मन में न तो कोई मोह था और न पूर्वग्रह। उन्होंने नारियों को भावना-भासित पुतली न मानकर समाज के सबल और निश्चित अंग के रूप में देखा। प्रेमचन्द उन कथाकारों से एकदम भिन्न हैं जो अपनी कृतियों में नारी चरित्रों को बहुधा उसी भाँति चित्रित करते हैं जिस प्रकार कि शिल्पी दीवारों पर सुन्दर नारी मूर्तियाँ उत्कीर्ण करता है। उनका दृष्टिकोण तो उस समदर्शी का है जो अपनी प्रतिभा की रोशनी पूरे समाज पर फेंकता है और इस प्रकार नर और नारी दोनों की विशेषताएँ स्पष्ट करता है। उनकी नारियाँ भारतीय समाज की औसत नारियाँ हैं जो सामाजिक विधि निषेधों पर लड़ती-झगड़ती सामने आती हैं। उनमें पुरुषों की भाँति ही अनेक दुर्गुण हैं लेकिन सम्भावनाएँ भी कम नहीं हैं।

गौण पात्र और प्रसंग

एक शराबी और ऐयाश आदमी अगर उदार हो, सहानुभूति रखता हो। क्षमाशील हो, सेवा-भाव रखता हो तो समाज के लिये वह एक पक्के आचार-वादी किन्तु अनुदार, घमण्डी, संकीर्णहृदय प्रसव से कहीं ज्यादा उपयोगी है।

—प्रेमचन्द

—विविध प्रसंग ३, पृ० ५१

श्रेष्ठ कृतित्व का अध्ययन नानाविद्य दृष्टिकोणों से परिचालित होकर किया जाना समीचीन है। ऐसा होने से कृतित्व की श्रेष्ठता के आयाम उद्घाटित होते हैं और कृति की सम्पन्नता और सार्थकता प्रमाणित होती है। कृतित्व के साँगो-पाँग अध्ययन की यह अनिवार्य शर्त है। विशेष दृष्टि-बिन्दु से परिचालित होकर कृतित्व के कुछ भाग को नोचकर अलग कर लेना और उसे आतशी शीशे से देखकर उस पर राय जाहिर कर देना आलोचक की शक्तिमत्ता भले ही प्रकाशित करे पर इससे कृतित्व की सौरभ-सुषमा पटावृत ही रह जाती है। इसलिये आलोचकों की एक ऐसी श्रेणी भी है जो किसी श्रेष्ठ कृति या कृतिकार के गौण रूपों और तत्त्वों पर विचार करने के लिये भी विवश है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी अंगहीन और उपेक्षणीय नहीं है वरन् अन्य अगों की अन्विति में रहकर उसे सुषमा और सार्थकता देता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कृतित्व का कोई अंश व्यर्थ और उपेक्षणीय नहीं होता। बहुधा ऐसे अंगों के अध्ययन से लेखक की कला या विचार-सरणि के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सूत्र हाथ लगते हैं। उनका अवलम्बन करने से अध्ययन की दिशा और भी प्रशस्त हो जाती है।

उपन्यासों में चरित्रों का महत्त्व तो होता ही है, क्योंकि उपन्यास अन्ततः मानव-चरित्र के कोषागार ही तो हैं। लेकिन चरित्रों के अध्ययन के क्रम में

अक्सर यह देखा गया है कि आलोचक प्रमुखता उसी चरित्र को देता है जिसे लेखक का विशेष ममत्व या स्नेहाश्रय मिला है। यह सही है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में सूरदास और होरी और धनिया जैसे चरित्रों का अपना महत्त्व है। यह कहना भी बिल्कुल सही है कि ये पात्र ही सम्बन्धित उपन्यास के मेरुदंड हैं। इनके बिना उपन्यास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लेखक ने बड़ी निष्ठा, ममत्व और रुचि से इन्हें सिरजा है। पता नहीं सूरदास, होरी और धनिया को प्रेमचन्द ने कितने दिनों तक अपना मानस-पुत्र बनाकर रखा हो। जिस प्रकार माँ शिशु को गर्भ में धारण कर अपने रक्त माँस से उसे आकार देती है और रात-दिन उसी की अनुचिंतना करती है, ठीक उसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी अपने वैचारिक-कोख में इन पात्रों को जुगा कर रखा और इनका पोषण किया। लेकिन फिर भी यह मानना होगा कि धनिया और होरी के अतिरिक्त भी ऐसे कितने ही पात्र हैं, जिसके बिना रंगभूमि या गोदान की कल्पना नहीं की जा सकती। सोफिया, विनय, जॉनसेवक, राय साहब, मेहता, मालती जैसे भारी-भरकम पात्रों को जाने भी दें, तो जैनव, रकिया, कुल्सूम, सुभागी, बंजरगी, नायकराम ताहिर अली, सिलिया, नोहरी चुहिया या झींगुरी, परेश्वरी और मातादीन के बिना उपन्यास का ढाँचा खड़ा नहीं होता। जिस तरह मकान को खड़ा करने के लिये कुछ मोटे-मोटे खम्भों की आवश्यकता तो होती ही है, लेकिन उन मोटे-मोटे खम्भों को स्थिरता और स्थायित्त्व देने के लिये छोटे-मोटे बाँसों और लकड़ियों का सहारा लिया जाता है उसी प्रकार किसी कृतित्व के प्रमुख अंग को पुष्ट करनेवाले उसके गौण अंग ही होते हैं। इसी अर्थ में कोई कलाकृति एक समान्वित (Composite) रचना है। ईंटों का अलग-अलग कोई महत्त्व नहीं है लेकिन जब वे राज की कला-योजना के अधीन होकर जुड़ती हैं, तो दीवारें बन जाती हैं। इसी प्रकार यदि चरित्र गौण हैं तो ऊपरी दृष्टि से उनका महत्त्व नहीं भी प्रतीत हो सकता है, लेकिन यदि उन्हें कृति के सन्दर्भ में गहरे जाकर देखा जाय और अन्य चरित्रों से उनका सम्बन्ध सूत्र ढूंढ़ा जाय, तो गौण चरित्र उतने सामान्य नहीं रह जायेंगे।

उपन्यास में गौण चरित्रों की योजना अकारण भी हो सकती है। साधारण लेखक ऐसा करता भी है। औसत अभिनेय नाटकों को लीजिये, तो उसमें

विदूषक अवश्य दिखाई देंगे। ये बहुधा दर्शकों के मनोरंजन के लिये ही नाटक में समाविष्ट किये जाते हैं. कथा की जीवन्त प्राणधारा से ये एकतान नहीं होते। यों श्रेष्ठ नाटककार इन्हें भी कथा का एक ऐसा आवश्यक तन्तु बना दे सकता है कि इनके बिना काम ही नहीं चले। पर साधारण नाटककार ऐसा नहीं कर पाता, वह विदूषक को विशुद्ध विदूषक ही बना पाता है। उपन्यास के गौण चरित्रों के बारे में यही बात कही जा सकती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में गौण पात्रों की योजना दोनों ही दृष्टियों से की गई है। कहीं-कहीं पर तो वे यों ही, एक नया प्रसंग खड़ा करने के लिये, लाये गये हैं। हाँ, ऐसे स्थलों पर यह अवश्य होता है कि ये गौण पात्र जिस प्रसंग की अवतरणा करते हैं, वे अपने आपमें काफी रोचक और मनोरंजक प्रमाणित होते हैं। पर इनका प्रयोजन बस इतना ही है। वे उपन्यास के मूल अभिप्राय से जुड़े से नहीं मालूम होते। जिस प्रकार किसी नाटक में राजदरबार का दृश्य होता है और राजा का आदेश पाकर नर्तकियाँ नृत्य-निरत हो जाती हैं और फिर अपना कार्य सम्पादित कर नेपथ्य की ओर लौट जाती हैं, ठीक उसी प्रकार ये पात्र भी आते हैं और अपना प्रसंग निबाह कर चुक जाते हैं। उनका अभाव हमें खटकता नहीं। उदाहरण के लिए 'कायाकल्प' के कुछ गौण पात्रों को लीजिये।

जब राजा विशालसिंह को रानी देवप्रिया की गद्दी मिलती है, तो मुंशी बज्रधर हँसी-खुशी में संगीत और महफिल का कार्यक्रम रखना चाहते हैं। राजा साहब संगीत के बहुत शौकीन तो नहीं हैं, पर संगीत मुन्शीजी की कमज़ोरी है, इसलिये तैयार हो जाते हैं। मुन्शीजी तुरन्त बाहर जाते हैं और उस्तादों को हाथों-हाथ ले जाते हैं। "१०-१२ आदमी थे, सबके सब बूढ़े, किसी का मुँह पोपला, किसी की कमर झुकी हुई, कोई आँख का अंधा। उनका पहनावा देखकर ऐसा अनुमान होता था कि कम-से-कम तीन शताब्दी पहले के मनुष्य हैं। बड़ी नीची चपकन, जिस पर हरी गोट लगी हुई, वही चुनावदार पाजामा, वही उलझी हुई तार-तार पगड़ी, कमर में पटका बँधा हुआ। दो-तीन उस्ताद नंग-धड़ंग थे, जिनके बदन पर लंगोटी के सिवा कुछ न था।

उस्तादों ने अन्दर आकर कुँवर साहब और अन्य सज्जनों को झुक-झुककर

सलाम किया और घुटने तोड़-तोड़ बैठे। मुंशीजी ने उनका परिचय कराना शुरू किया यह उस्ताद मेंडू खाँ हैं, महाराज अलवर के दरबारी हैं, वहाँ से हज़ार रुपये सालाना वजीफा मिलता है। आप सितार बजाने में अपना सानी नहीं रखते। किसी के यहाँ आते-जाते नहीं, केवल भगवान भजन किया करते हैं। यह चन्दू महाराज है, पखावज के पक्के उस्ताद। ग्वालियर के महाराज इनसे लाख-लाख कहते हैं कि आप दरबार में रहिये, दो हज़ार रुपये महीने तक देते हैं लेकिन आपको काशी से प्रेम है। छोड़कर नहीं जाते। यह उस्ताद फजलू हैं, राग-रागनियों के फिकैत, स्वरों से रागनियों की तस्वीर खींच देते हैं। एक बार आपने लाट साहब के सामने गाया था। जब गाना बन्द हुआ तो साहब ने आपके पैरों पर अपनी टोपी रख दी और घंटों छाती पीटते रहे, डाक्टरों ने जब दवा दी तो उनका नशा उतरा।

परिचय के बाद गाना शुरू हुआ। फज़लू ने मलार छेड़ा और मुन्शीजी झूमने लगे। फजलू भी मुन्शीजी को ही अपना कमाल दिखाते थे। उनके सिवा और उनकी निगाह में कोई था ही नहीं। उस्ताद लोग वाह-वाह का तार बांधे हुए थे, मुन्शीजी आँखें बन्द किये सिर हिला रहे थे और महफिल के लोग एक-एक करके बाहर चले जा रहे थे, दो-चार सज्जन बैठे थे, वे वास्तव में सो रहे थे। फजलू को इसकी ज़रा भी परवाह नहीं थी कि लोग उसका गाना पसन्द करते हैं या नहीं।—अगर इस महफिल में अकेले मुन्शीजी होते, तो भी फजलू इतना ही मस्त होकर गाता।

मलार के बाद फजलू ने निर्गुण गाना शुरू किया। रागिनी का नाम तो उस्ताद ही बता सकते हैं। उस्तादों के मुख में सभी रागनियाँ समान हो जाती हैं। मुन्शीजी को इस राग ने मतवाला कर दिया। पहले बैठे-बैठे झूमते थे, फिर खड़े-खड़े झूमने लगे, झूमते-झूमते आप ही आप उनके पैरों में एक गति-सी होने लगी। हाथ के साथ पैरों से भी ताल देने लगे। यहाँ तक कि वह नाचने लगे। उन्हें इसकी ज़रा भी झेंप न थी कि लोग दिल में क्या कहते होंगे—सभी कर्मचारी मुँह फेर-फेरकर हँसते थे। जो लोग बाहर चले गये थे वे भी यह ताण्डव-नृत्य देखने के लिये आ पहुँचे। यहाँ तक कि विशालसिंह भी हँस रहे थे।

नाचते-नाचते आनन्द से विह्वल होकर मुन्शीजी गाने लगे। उनका मुख अनुराग से प्रदीप्त हो रहा था। आज बड़े सौभाग्य से और बहुत दिनों के बाद उन्हें यह स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिला था। उनकी बूढ़ी हड्डियों में इतनी चपलता कहाँ से आ गई, इसका निश्चय करना कठिन है। इस समय तो उनकी स्फूर्ति और चुस्ती जवानों को भी लज्जित करती थी। उनका उछलकर आगे जाना, फिर उछलकर पीछे आना, झुकना और मुड़ना और एक-एक अंग को फेरना वास्तव में आश्चर्यजनक था।" (पृ० ८४)

गायकों के आगमन से उपन्यास की कथा में जो एक नया प्रसंग जुड़ता है वह काफी रोचक और दिल को गुदगुदानेवाला है। जबतक यह प्रसंग चलता है पाठक गायकों की अजीबोगरीब वेश-भूषा, उनके निपट-निराले रंग-ढंग और मुन्शी वज्रधर की ज़िन्दादिली और कद्रदानी के मज़े लूटता है। लेकिन जब प्रसंग समाप्त हो जाता है, तो पाठक को किसी प्रकार का अफसोस नहीं होता और न वह इन गौण पात्रों की भावी गतिविधियों के बारे में सोचता है। जिस प्रकार तमाशा देखकर दर्शक-समुदाय तुष्ट हो जाता है और नट और नटी की भावी गतिविधि जानने का आकांक्षी न होकर गृहगामी होता है, उसी प्रकार पाठक भी इन पात्रों से प्रसूत प्रसंग से संतुष्ट होकर कथा की गति के साथ आगे बढ़ा जाता है। वह धीरे-धीरे इन पात्रों को भूल भी जाता है।

पर प्रेमचन्द के उपन्यासों में दूसरे प्रकार के गौण पात्र भी हैं, जो आते तो कहीं-कहीं ही हैं, अपनी झलक भर दिखाते हैं, लेकिन उनकी वह क्षणिक उपस्थिति ही कुछ इतनी सत्य और सार्थक है कि पाठक उन्हें आसानी से भूल नहीं पाता। ऐसे गौण पात्र कभी-कभी कथा के मूल अभिप्राय के इतने निकट सिद्ध होते हैं कि आसानी से टाले नहीं टलते। ऊपरी दृष्टि से ये नितान्त गौण और सामान्य मालूम होते हैं लेकिन जब इन पर ज़रा अब गौर करके दृष्टि डालते हैं, तो इनकी विशेषता साफ-साफ समझ में आती है और यह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि इन नगण्य से दिखनेवाले पात्रों की योजना लेखक ने अकारण नहीं की है, वे सयत्न और साभिप्राय लाये गये हैं। जिस प्रकार रामायण में स्वर्ण-मृग की उपस्थिति है तो क्षणिक, पर उसका भी एक गूढ़ और प्रतीकात्मक अभिप्राय है

एवं उसका प्रभाव और परिणति असीम है, ठीक उसी प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों के ऐसे गौण पात्र ऊपर से देखने में कितने ही सामान्य क्यों न लगें पर लेखक के गूढ़ मंतव्य को स्पष्टता और अचूकता के साथ ध्वनित करनेवाले हैं।

ऐसा ही गौण पात्र है 'कर्मभूमि' का काले खाँ। वह अधेड़, बलिष्ठ, काला और कठोर आकृति का मनुष्य है। सबसे पहले वह लाला समरकान्त की दुकान पर चोरी का कड़ा बेचने के लिये उपस्थित होता है। चोरी करना और चोरी का सामान वेचकर अपना गुजर-बसर करना और शराब पीना यही उसका धन्धा है। वह लाला समरकान्त का पुराना आसामी है, इसलिये चोरी का माल वेचने के लिये अक्सर उन्हीं की दुकान पर आता है, बला से उसे दाम कुछ कम मिले।

लाला समरकान्त की अनुपस्थिति में काले खाँ अमरकान्त से सौदा करना चाहता है। वह अमर के कान के पास मुँह लगाकर कहता है, "एक रकम दिखाने लाया था। कोई दस तोले की होगी। बाजार में ढाई सौ से कम की नहीं है, लेकिन मैं तुम्हारा पुराना आसामी हूँ, जो कुछ दे दोगे ले लूंगा।" (पृ० ३२) जब अमरकान्त उससे पूछता है—यह कड़े तुमने कहाँ पाये तो यह बेहयाई से मुस्कुरा कर कहता है—"यह न पूछो, राजा, अल्लाह देनेवाला है।" जब अमरकान्त घृणा का भाव दिखाकर कहता है—कहीं से चुरा लाये होगे, तो वह हँसकर कहता है—चोरी किसे कहते हैं राजा, यह तो अपनी खेती है। अल्लाह ने सबके पीछे हीला लगा दिया है। कोई नौकरी करता है, कोई मजूरी करता है, कोई रोज़गार करता है। देता सबको वही खुदा है।" (पृ० ३३)

यह सब लाला अमरकान्त को बड़ा जघन्य मालूम पड़ता है। वह काले खाँ से कहता है—"मुझे इस चीज की जरूरत नहीं है। इसे ले जाओ नहीं मैं पुलिस में इत्तला कर दूंगा। फिर इस दुकान पर ऐसी चीज लेकर न आना कहे देता हूँ।" लाला अमरकान्त की ऐसी धमकियों और कठोर बातों से काले खाँ विचलित नहीं होता। वह कड़े का मोल-तोल करने लगता है। पहले डेढ़ सौ माँगता है, फिर सौ चाहता है और अन्त में पचास और तीस पर उतर आता है। लेकिन अमरकान्त इस पर भी सौदा नहीं करता, उसे गाली देकर और ठोकर मारकर अपनी दुकान से निकाल देता है। वेचारा काले खाँ चुपचाप नाक की

सीघ अपनी राह चला जाता है ।

काले खाँ का यह रूप अपने-आपमें बड़ा संक्षिप्त, किन्तु सत्य है। यदि हम इस पर ऊपरी तौर पर ही दृष्टि डाल कर रह जायँ, तो सच ही काले खाँ जैसे चरित्र का विशेष महत्त्व नहीं होगा । लेकिन हम जानते हैं कि काले खाँ के चरित्र का सम्बन्ध लाला समरकान्त के चरित्र से है जो उपन्यास के एक प्रमुख पात्र हैं। काले खाँ जैसे असामियों के बल पर ही उनका रोजगार खड़ा है, दुकान चलती है । यहाँ काले खाँ का चरित्र एक टाइप भी है जो लाला समरकान्त जैसे चरित्रों को बनने-बिगड़ने का सहारा देता है, समाज का ढाँचा खड़ा करता है। अमरकान्त से काले खाँ का यह कहना ठीक है—"यह तो तुम बिल्कुल नई बात कहते हो भैया। लाला इस नीति पर चलते तो आज महाजन न होते, हजारों रुपये की चीज तो मैं ही दे गया हूँगा । अँगनू महाराज भिखारी, हींगन सभी से लाला का व्यवहार है।" इससे स्पष्ट है कि काले खाँ का चरित्र उतना सामान्य नहीं है, जितना कि वह ऊपर से दिखता है ।

जब अमरकान्त काले खाँ को गाली देता है और धक्का मारता है तो वह कुछ नहीं बोलता, चुपचाप अपनी राह लेता है। क्यों ? क्या वह अमरकान्त की धमकियों की परवाह करके चोरी और सीना जोरी वाली कहावत चरितार्थ नहीं कर सकता था ? लाला समरकान्त और अमरकान्त को बुरा-भला और खरी-खोटी नहीं सुना सकता था जिनकी गद्दी उस जैसे के सहयोग पर ही निर्भर करती है ? लेकिन नहीं वह कुछ नहीं बोलता, चुपचाप नक्कू बना अपनी राह लेता है ।

काले खाँ की इस गमखोरी का रहस्य तब स्पष्ट होता है जब हम फिर उसे अमरकान्त के साथ जेल में वार्तालाप करते पाते हैं। जब अमरकान्त इससे पूछता है— तुम जेल कैसे आये, तो वह कहता है—"मेरी क्या पूछते हो लाला, यहाँ तो ६ महीने बाहर रहते हैं और ६ साल भीतर। अब तो यही आरजू है कि अल्लाह यहीं से बुला ले । मेरे लिये बाहर रहना मुसीबत है । सबको अच्छा-अच्छा पहनते अच्छा-अच्छा खाते देखता हूँ तो हसद होती है पर मिले कहाँ से ? कोई हुनर आता नहीं, इलम है नहीं। चोरी न करूँ, डाका न मारूँ तो

खाऊँ क्या ? यहाँ किसी से हसद नहीं होती, न किसी को अच्छा पहनते देखता हूँ, न अच्छा खाते, फिर डाह और जलन क्यों हो ?" आगे चलकर वह लाला अमरकान्त से कहता है—"तुम्ही ने उस दिन मुझे वह नसीहत सिखाई थी। मैं तुम्हें अपना पीर समझता हूँ दो सौ की चीज तुमने तीस रुपये में न ली। उसी दिन मुझे मालूम हुआ कि बदी क्या चीज है। अब सोचता हूँ अल्लाह को कौन मुँह दिखाऊँगा। (पृ०–३५९)

काले खाँ की गमखोरी का रहस्य यहाँ स्पष्ट है। वह हजार बुरा आदमी रहे, लेकिन ठोकर खाकर जितनी जल्दी होश में आता है, उतनी जल्दी हम-आप नहीं आते। ठोकर और गालियों से वह उबलता नहीं, तैश में आकर अपने दुष्कर्मों की सफाई नहीं देता, उनका औचित्य नहीं सिद्ध करता वरन् अपनी गलती महसूस करता है। लेकिन जैसा कि वह स्वीकार कर चुका है उसकी कुछ अपनी मजबूरियाँ भी हैं इसीलिये तो अब उसे जीने में कोई लज्ज़त नहीं मालूम देती।

इस रूप में देखने से यह स्पष्ट है कि काले खाँ जैसे गौण चरित्रों में विकास की सम्भावनायें इतनी अधिक हैं कि प्रेमचन्द के बहुत से प्रमुख पात्र उनकी बराबरी नहीं कर सकते। चरित्रगत उतार-चढ़ाव का जो रूप काले खाँ जैसे चरित्रों में दृष्टिगत होता है वह अन्य प्रमुख चरित्रों में मुश्किल से मिलेगा। अत्यन्त सामान्य और उपेक्षनीय दीखने पर भी सच्चे अर्थ में ये शीलवान चरित्र हैं। जब ये गलत पथ पर चलते हैं तो प्रतिकूल-शील का चरमरूप उपस्थित करते हैं और जब सही राह पर आ जाते हैं तो अनुकूल-शील के आदर्श बन जाते हैं।

अमरकान्त और सुखदा जैसा शील-व्यामोह और शील-वैषम्य काले खाँ जैसे पात्रों में नहीं है कि क्षण इधर और क्षण उधर का रुख अपनायें। निम्नवर्ग की सरल, निश्छल मनोभूमि को स्पष्ट करने के लिये ऐसे ही चरित्रों की अवतारण समीचीन है। इन पात्रों का चरित्र-विकास सीधा और सरल है, जिसे पाठक आसानी से देख और समझ सकता है। चूँकि ऐसे पात्रों में शीलगत जटिलता नहीं होती, इसलिये इनके विकास का पथ भी प्रशस्त होता है।

काले खाँ को ही लीजिये। कहाँ तो वह प्रतिकूल-शील का चरम उदाहरण काला, कठोर दस्यु और कहाँ उसकी भक्ति-प्रदीप्त तरल-सरल मुख-मुद्रा जब वह अल्लाह के बारे में कहता है—"बड़ा दयालु है भैया। माँ के पेट में बच्चे को भोजन पहुँचाता है। यह दुनिया ही इसकी रहीमी का आइना है, जिधर आँखें उठाओ उसकी रहीमी के जलवे। इतने खूनी डाकू यहाँ पड़े हुए हैं, उनके लिये भी आराम का सामान कर दिया है, बार-बार मौका देता है कि अब भी सँभल जाये। उसका गुस्सा कौन सहेगा भैया। जिस दिन उसे गुस्सा आयेगा यह दुनिया जहन्नुम को चली जायेगी। हमारे तुम्हारे ऊपर वह क्या गुस्सा करेगा। हम चींटी को पैरों तले पड़ते देखकर किनारे से निकल जाते हैं। उसे कुचलते रहम आता है। जिस अल्लाह ने हमको बनाया, जो हमको पालता है, वह हमारे ऊपर कभी गुस्सा कर सकता है? कभी नहीं।" (पृ० २६०)

यह है काले खाँ का रूप जिसे देखकर अमरकान्त को अपने अन्दर आस्था की एक लहर-सी उठती हुई जान पड़ती है। इतना अटल विश्वास और सरल श्रद्धा सच ही प्रेमचन्द के बहुत से प्रमुख पात्रों में भी नहीं है। विचारक जो यह कहते हैं कि सफेद-पोश नेताओं और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को जन-सम्पर्क में रहना चाहिये उसका तात्पर्य यही है कि जन-सम्पर्क में एक संजीवनी-शक्ति होती है, अटल विश्वास होता है और सरल श्रद्धा होती है।

गरीबी, अशिक्षा और अंधकार में पलने वाली जनता के जीवन में एक आलोक होता है प्रेमचन्द ने अपने अनुभव के आधार पर इस बात को स्पष्टतया समझा था। इसलिये उनके उपन्यासों में ऐसे कई प्रसंग आते हैं जबकि उच्चवर्ग या मध्यवर्ग के प्रमुख पात्र वैभव-विलास या अहम्भाव की चकाचौंध में अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं और विपरीत व्यवहार करने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में निम्नवर्गीय गौण पात्र सामने आकर प्रमुख पात्रों को आड़े हाथों लेते हैं; खरी-खोटी सुनाते हैं। तब जाकर प्रमुख पात्रों को होश आता है।

'कायाकल्प' में जब चक्रधर मोटर पर घूमते हुए एक गांव की ओर निकल जाते हैं और उनकी मोटर खराब हो जाती है तो अपने राजसी रोबदाब का सहारा लेकर गांववालों से मोटर निकलवाना चाहते हैं। रात होने के कारण

जब गांववाले किंचित आपत्ति करते हैं, तो चक्रधर आपे से बाहर हो जाते हैं और एक किसान को धक्का देकर मार बैठते हैं। इसी समय भीतर से किसान का बड़ा भाई आता है जो एक समय चक्रधर के साथ जेल में रह चुका है। वह चक्रधर से कहता है—"तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया। जेल में तो तुम दया और धरम के देवता बने हुए थे। क्या दिखावा ही दिखावा था ? निकला तो था कुछ और ही सोचकर मगर तुम अपने पुराने साथी निकले। कहाँ तो दारोगा को बचाने के लिये अपनी छाती पर संगीन रोक ली थी, कहाँ, आज जरा-सी बात पर इतने तेज पड़ गये। (पृ० २४४)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द छोटे-छोटे गौण पात्रों को भी कृति में एक विशेष उद्देश्य से स्थान देते हैं। ये गौण पात्र अँधेरी रात में बिजली के समान चमकते तो कभी-कभी ही हैं, और थोड़ी देर के लिये ही, लेकिन इनके इस संक्षिप्त किन्तु तीव्र आलोक में कथा का पूरा वातावरण और कई संलग्न चरित्र पूर्णतः प्रकाशित हो उठते हैं। प्रेमचन्द का यह कहना ठीक ही है कि ऐसी काली-कलूटी काया में (चाहे वह काले खाँ हो, या गोदान की चुहिया या वन्य महिला) स्वर्ण जैसा हृदय चमकता दीख पड़ता है। ये ही पात्र जो कभी अधमता के पैरों के नीचे लोटते दिखाई पड़ते हैं, एकाएक देवत्व के पद पर पहुँच जाते हैं। उनकी आत्मा से मानो एक प्रकाश-सा निकलता है जो तथाकथित प्रमुख पात्रों के अन्तःकरण को आलोकित कर देता है।

काले खाँ के चरित्र को ही हम उदाहरण स्वरूप लेकर चले हैं तो उसे जरा और ठीक से देखना होगा। साधारणतः किसी पर उपकार करबा उस पर एहसान जमाना है। लेकिन काले खाँ इसका अपवाद है। वह साथी कैदियों की चक्की चलाकर उन्हें मदद करता है लेकिन उन पर एहसान का बोझ नहीं लादता। वह अमरकान्त से कहता है—"भैया कोई काम सबाव समझ कर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि सबाब में उसे वही मजा आये जो गाने या खेलने में आता है। कोई काम इसलिये करना कि उससे नजात मिलेगी, रोजगार है। (पृष्ठ ३६०)

विचारों की यह विशालता और उदारता काले खाँ जैसे दीन-हीन निर्धन

पात्रों में ही मिल सकती है। तथाकथित बड़े लोगों और सफेद पोशों में नहीं, वे तो परोपकार का बहाना करके दूसरों को अपने एहसानों से खरीदना चाहते हैं या परोपकार उनके जानते कोई हुँडी है जिसे जब चाहा भुना लिया जा सकता है और उससे मोक्ष और पुण्य खरीदा जा सकता है। प्रेमचन्द काले खां जैसे चरित्रों को लेकर बड़े कौशल से बड़े और छोटे आदमियों के चरित्र-वैषम्य पर प्रकाश डालते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि गौण पात्र प्रमुख पात्रों के चरित्र की कसौटी है, जिस पर कसे जाकर प्रमुख खरे या खोटे प्रमाणित होते हैं।

काले खाँ का एक और रूप लीजिये। "सूर्यास्त हो रहा है। काले खाँ ने अपने पूरे गेहूँ पीस डाले हैं और दूसरे कैदियों के पास जा-जाकर देख रहा है किसका कितना काम बाकी है। कई कैदियों के गेहूँ अभी समाप्त नहीं हुए हैं। जेल कर्मचारी आटा तौलने आ रहा होगा। बेचारों पर आफत आ जायेगी, मार पड़ने लगेगी। काले खाँ ने एक-एक चक्की के पास जाकर कैदियों की मदद करनी शुरू की। उसकी फुरती और मेहनत पर लोगों को विसमय होता था। आध घंटे में उसने फिसड्डियों की कमी पूरी कर दी।"

सेवा और उत्सर्ग का यह दिव्य रूप, जो काले खाँ के चरित्र में उपलब्ध होता है लेखक द्वारा आरोपित नहीं है, यह तो निम्नवर्गीय जीवन की सच्चाई है। ये ही गुण तो समाज के अन्य वर्ग के लोगों को उनसे सीखने हैं। प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में बड़ी स्वाभाविकता के साथ यह दर्शाया है कि निम्नवर्गीय व्यक्ति अनेक विषमताओं में पलते हुए भी चरित्र-विकास की सही दिशा को भूल नहीं पाया है। वे अशिक्षित हैं, भूखों मरते हैं, चोरी करते हैं, डाके डालते पर यह सब करते हुए भी मानवता से उतने दूर नहीं हैं जितने कि तथाकथित सफेद-पोश और बड़े-बड़े आदमी। ऐसा इसलिये कि काले खाँ जैसे व्यक्ति यदि अपवृत्ति अपनाते हैं, तो शौक से नहीं वरन् सामाजिक वैषम्य से पीड़ित होकर।

काले खाँ का एक और रूप लीजिये। वह अपना काम खत्म कर नमाज पढ़ने लगता है। इसी समय आटा तुलवाने के लिये जेलर साहब जाते हैं और काले खाँ की खोज करते हैं। अमरकान्त के यह कहने पर कि काले खाँ नमाज

पढ़ रहा है, जेलर साहब कहते हैं--उसे बुलाओ, पहले आटा तुलवा ले, फिर नमाज़ पढ़े, बड़ा नमाज़ की दुम बना है। जब अमरकान्त कहता है उन्हें नमाज़ पढ़ने दें, आप आटा तौल लें, तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और काले खाँ पर उबल पड़ते हैं—अबे ओ नमाज़ी के बच्चे, आटा क्यों नहीं तुलवाता। बचा, गेहूँ चबा गये हो, तो नमाज़ का बहाना करने लगे। चल चटपट, वरना मारे हंटरों के चमड़ी उधेड़ दूँगा।"

यह है एक सफ़ेद-पोश का यथार्थ स्वरूप, जिसका दिल दिल नहीं, पत्थर है। एक ओर काले खाँ का परोपकार, कर्त्तव्य-निष्ठा और धार्मिकता दूसरी ओर जेलर का गाली-गलौज, शक-सुबहा, अधार्मिक प्रवृत्ति और अह्म भाव। दोनों की कोई तुलना नहीं है। सत्य ही काले खाँ का चरित्र एक छोटा मशाल है जो चरित्रों के अँधेरे कोषागार में रोशनी फैलाता है और अपने साथ-साथ अन्य चरित्रों का स्वरूप स्पष्ट करता है।

जेलर साहब की धमकियाँ और घुड़कियाँ बेकार जाती हैं क्योंकि काले खाँ दूसरी ही दुनिया में है। यह जेल के प्रभु को कब बर्दाश्त हो सकता था वे झल्ला कर लात जमाते हैं। "काले खाँ सिजदे के लिये झुका हुआ था। लात खाकर औंधे मुँह गिर पड़ा, पर परन्तु सम्हल कर फिर सिज़दे में झुक गया। जेलर को अब ज़िद पड़ गई कि उसकी नमाज़ बन्द कर दे। सम्भव है काले खाँ को भी जिद पड़ गई हो कि नमाज़ पूरी किये बग़ैर न उठूँगा। वह तो सिजदे में था। जेलर ने उसे बूटदार ठोंकरे जमानी शुरू कीं। एक वार्डर ने लपक कर दो गारद के सिपाही बुला लिये। दूसरा जेलर साहब की कुमुक पर दौड़ा। काले खाँ पर एक तरफ़ से ठोंकरे पड़ रही थी, दूसरी तरफ़ से लकड़ियाँ, पर वह सिजदे से सिर न उठाता था। हाँ, प्रत्येक आघात पर उसके मुँह से अल्ला-हो-अकबर की दिल हिला देनेवाली सदा निकल जाती थी। इधर आघातकारियों की उत्तेजना भी बढ़ती जाती थी। जेल का क़ैदी जेल के खुदा को सिजदा न करके अपने खुदा को सिजदा करे इससे बड़ा जेलर साहब का क्या अपमान हो सकता था? यहाँ तक कि काले खाँ के सिर से रुधिर बहने लगा। अमरकान्त उसकी रक्षा करने के लिये चला था कि एक वार्डर ने उसे मजबूत पकड़ लिया। उधर बराबर

आघात हो रहे थे और काले खाँ बराबर अल्ला-हो-अकबर की सदा लगाये जाता था। आखिर आवाज़ क्षीण होते-होते एक बार बिल्कुल बन्द हो गई और काले खाँ रक्त बहने से शिथिल हो गया। मगर चाहे किसी के कानों में आवाज़ न जाती हो उसके ओठ अब भी खुल रहे थे और अब भी अल्ला-हो-अकबर की अव्यक्त ध्वनि निकल रही थी।" (पृ० ३६२)

यह है दो चरित्रों का वैषम्य। प्रेमचन्द ने काले खाँ के चरित्र के माध्यम से यह दिखला दिया है कि सत्य, अहिंसा, प्रेम, संयम और कर्त्तव्य-निष्ठा मात्र पढ़े-लिखे लोगों की बपौती नहीं है। लेखक का यह कहना ठीक ही है कि काले खाँ की आत्मशक्ति के इस कल्पनातीत उदाहरण ने अमरकान्त की भौतिक बुद्धि को आक्रान्त कर लिया। ऐसी कठिन परिस्थिति में क्या कोई दूसरा काले खाँ की तरह निश्चल और संयमित बैठा रहता। शायद पहले ही आघात में या तो प्रतिकार करता या नमाज छोड़कर अलग हो जाता। काले खाँ जैसी चारित्रिक दृढ़ता विरले ही लोगों में होती है।

काले खाँ की दुर्दशा देखकर जेल के सभी कैदी क्षुब्ध हो जाते हैं। वे योजना बनाते हैं कि जेलर से बदला लिया जाय। इसकी भनक काले खाँ के कानों में पड़ती है। वह कहता है किससे बदला चुकाओगे भाई, अल्लाह से? अल्लाह की यही मरजी है तो उसमें दूसरा कौन दखल दे सकता है। अल्लाह की मरजी के बिना कहीं एक पत्ती भी हिल सकती है? जरा मुझे पानी पिला दो। और देखो जब मैं मर जाऊँ तो यहाँ जितने भाई हैं सब मेरे लिये खुदा से दुआ करना। और दुनिया में मेरा कौन है। शायद तुम लोगों की दुआ से मेरी नजात हो जाय।

यह है काले खाँ की उदारता और विशालता। यहाँ प्रेमचन्द ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि गांधी-युग में सत्य और अहिंसा की जिस विचारधारा का प्रचार हुआ उसका अवलम्बन करने वाले अमरकान्त, डॉ० शान्तिकुमार और सुखदा जैसे लोग ही नहीं थे वरन् उसकी जड़ें समाज के निम्नवर्ग तक भी जा पहुँची थीं। लेखक ने यह बताया है कि कोई आवश्यक नहीं कि पढ़े-लिखे लोग ही गांधीवादी विचार-सरणि को समझें और जीवन में उन्हें रूपाकृत करे वरन्

काले खाँ जैसा साधारण आदमी भी उसे हृदयंगम कर सकता है और अपने दैनिक जीवन में सिद्धान्तों को उतार कर दिखला सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने काले खाँ के ब्याज से समाज में गांधीवादी विचार-धारा के प्रभावों का भी सूक्ष्म अनुशीलन किया है। या इसे इस ढंग से भी देख सकते हैं कि धार्मिकता की जड़ आज उच्चवर्ग और मध्यवर्ग में भले ही गहरी न हो, पर निम्नवर्ग में अब भी गहरे में वर्त्तमान है। इस प्रकार काले खाँ जैसे गौण पात्रों के ब्याज से लेखक कई सामाजिक सत्यों का साक्षात्कार एक साथ कराता है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर कौन कहेगा कि प्रेमचन्द के गौण पात्रों का अपना विशेष महत्त्व नहीं है ? जिस प्रकार तुलसी के छोटे और बड़े सभी दल अपना समान गुणात्मक महत्त्व रखते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ कृतित्व का सब कुछ अद्‌भुत, अपूर्व होता है। यदि यह सच है कि समाज नाना चरित्रों का समूह है तो उस समाज को प्रत्यक्ष करनेवाले किसी भी चरित्र का महत्त्व अन्य चरित्रों की तुलना में क्यों कर कम हो सकता है ? प्रेमचन्द के उपन्यासों में काले खाँ जैसे कितने ही चरित्र हैं जिनका सम्यक् अध्ययन कथाकार के गूढ़ मंतव्यों और सामाजिक सत्यों को सफलता के साथ स्फुट करता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के गौण पात्रों पर विचार करने के क्रम में यह स्वीकार किया गया है कि श्रेष्ठ उपन्यास में जहाँ प्रधान पात्रों का अपना महत्त्व होता है वहाँ गौण पात्र भी विशिष्ट महत्त्व के अधिकारी होते हैं। बहुधा उनकी गतिविधियाँ, सोचने का ढंग और कार्य-प्रणाली प्रधान पात्रों को प्रभावित करने वाले उपकरण सिद्ध होते हैं। यही बात प्रेमचन्द के उपन्यासों के गौण प्रसंगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

गोदान में एक प्रसंग है : जब मेहता और मालती शिकार के लिये जंगल की ओर जाते हैं तो उनकी भेंट एक वन्य युवती से होती है। मेहता स्वेच्छया और मालती परिस्थितिवश उसका आतिथ्य ग्रहण करते हैं। वन्य युवती अत्यन्त आह्‌लादपूर्वक अभ्यागतों का स्वागत करती है। मेहता जहाँ उसके आतिथ्य से तुष्ट होते है वहाँ मालती ईर्ष्यावश रुष्ट होती है। कुछ देर बाद मेहता और

मालती उससे विदा लेते हैं।

गोदान' का यह अत्यन्त गौण प्रसंग है। लेकिन यह छोटा-सा प्रसंग ही मेहता और मालती के चरित्र को प्रभावित करता है। मेहता वन्य युवती से विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम का सबक सीखते हैं। और मालती उससे खीझ कर भी आगे चलकर उसके गुणों पर रीझी नहीं, यह कौन कहेगा ? जिस प्रकार वन्य युवती यह जानकर कि मालती के सिर में दर्द है, तीर की तरह एक पहाड़ी की ओर चल पड़ती है और लू-लपट में अपनी परेशानी की परवाह न कर, पहाड़ पर चढ़कर, जड़ी ले आती है और मालती को घिस कर पिलाना चाहती है, उसी प्रकार मालती भी आगे चलकर अपने अभिजात-गौरव को भूलकर धूल-धूप में गांवों की ओर जाती है और निर्धन ग्रामीणों को स्वास्थ्य का पाठ पढ़ाती है और उनकी निःस्वार्थ सेवा के लिये उद्यत होती है।

मालती के इस रूप-गठन में वन्य युवती की निःस्वार्थ सेवा और तत्परता का कोई हाथ नहीं है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है। मेहता ने उस जंगली युवती के सम्बन्ध में जो यह कहा था कि "उसमें कुछ बातें तो ऐसी हैं कि यदि मालती में होतीं तो वह सचमुच देवी हो जाती" उसे मालती ने निश्चय ही ध्यान में रखा होगा। तभी तो आगे चलकर वह उन गुणों को अपने चरित्र में अन्तर्मुक्त कर पाती है और सामान्य मालती से विशिष्ट मालती बन जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह गौण प्रसंग कृतित्व में अपना औचित्य सिद्ध करता है और कथा का अपरिहार्य अंग बन जाता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे कितने ही छोटे-मोटे प्रसंग आते हैं जो ऊपरी दृष्टि से देखने पर मात्र रोचकता का सन्निवेश करने वाले प्रतीत होते हैं, पर यदि विचार करके देखा जाय तो उनसे लेखक के गूढ़ अभिप्राय स्पष्ट होते हैं।

'गोदान' में जब राय साहब के यहाँ शहर के सफेदपोश रईस, सम्पादक, प्रोफेसर, दलाल और डाक्टर आदि जुटते हैं, तो उनमें से एक डा० मेहता उजड्ड पठान का स्वांग करते हैं। लेकिन यह स्वांग निरा स्वांग नहीं है। इसके बहाने लेखक ने पाठकों का मनोरंजन तो किया ही है, लेकिन शहरी लोगों के जीवन की बखिया भी उधेड़ कर रख दी है। किस प्रकार सभ्य लोगों के वचन और

कर्म में विरोध है और मौका पड़ने पर वे किस बहादुरी से पीछे हटते रहते हैं और थोथे तर्क द्वारा उसे जायज ठहराते हैं, मिल-जुल कर स्थिति का मुकाबला करने के बदले किस प्रकार एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं, यह उक्त प्रसंग से स्पष्ट है।

इसी अवसर पर एक सीधा-सादा किसान (होरी) किस प्रकार उन शहरी लोगों के सामने अपनी क्रियात्मक जवांमर्दी दिखाता है, यह भी स्पष्ट है। लेखक ने इस प्रसंग से यह स्पष्ट करना चाहा है कि शहरी-जीवन में ढोंग, बनावट और दिखावे की सभ्यता है। लोग स्वार्थ के कारण एक जगह इकट्ठे होते हैं, योजनाएँ बनाते हैं, मिलें खड़ी करते हैं, कारखाने चालू करते हैं, इन्श्योरेन्स की पॉलिसी लेते हैं लेकिन जैसे ही कोई आसन्न संकट का क्षण उपस्थित होता है, सारे समझौते और संधियाँ टूट जाती हैं, अपनत्व और भाईचारा मिट जाता है; वहाँ पर सिर्फ अपनी रक्षा का प्रश्न उपस्थित होता है, दूसरा यदि जहन्नुम में भी जाता हो, तो कोई परवाह नहीं है।

लेकिन ऐसे संकट के मौके पर सीधे-सादे ग्रामीणों के मनोभाव नितान्त भिन्न किस्म के होते हैं। वे अपना नफा-नुकसान नहीं सोचते, अपने को खतरे में डालकर भी बाबू लोगों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य और मानवता का तकाजा समझते हैं। मेहता को पठान बना देखकर जहाँ सभी शहरी लोग हक्के-बक्के हो जाते हैं, उनके हाथ-पांव फूल जाते हैं वहाँ बिचारा होरी ही उनके काम आता है। पठान से जरा भी नहीं डरते हुए, बिना इस ख्याल को मन में लाये कि पठान से चलते बाबू लोगों की हेंकड़ी गुम है, वह परिस्थिति के भँवर में कूद पड़ता है और पठान को चित्त कर देता है। इस छोटे-से प्रसंग से प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि होरी विपन्न जितना भी हो लेकिन कायर और मौके पर पीठ दिखाने वाला नहीं है।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में भी ऐसे कितने ही प्रसंग हैं जो ऊपर से देखने में तो निरे संक्षिप्त से लगते हैं पर उनका अभिप्राय बड़ा विशद होता है। ऐसे प्रसंगों की योजना लेखक का कौशल सूचित करती हैं क्योंकि इनके व्याज से लेखक बड़े ही तटस्थ ढंग से, बिना अपने को कथा के बीच में लाये हुए, अपना

अभिप्राय व्यक्त करता है।

यदि यह सच है कि उपन्यास में लेखक को न बोलकर पात्रों, और विशेष कर घटनाओं, को बोलना चाहिये तो कृति में इन प्रसंगों की उपादेयता सहज ही समझ में आने के योग्य है। ये प्रसंग घटनाओं के मुख से बोलते हैं और लेखक के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं। यदि कुशल लेखक कथा में ऐसे छोटे-मोटे सार्थक प्रसंगों की योजना न करे तो उसे अपने पात्रों और मंतव्यों के सम्बन्ध में कितना कुछ कहना पड़ेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। कुशल लेखक अपने को सहज ही इन प्रसंगों की आड़ में सफाई से छिपा लेता है और छिपा-छिपा ही कथा का सूत्र-संचालन करता है। इससे पाठकों का मनोरंजन तो होता ही है, क्योंकि वह अपने सामने पात्रों और घटनाओं की एक मनोरम दुनिया खड़ी देखता है, पर साथ-साथ लेखक को भी कुछ सुविधा होती है। यदि ऐसे छोटे-मोटे प्रसंग लेखक के मूल अभिप्राय को ध्वनित कर सकें, तो यह लेखक की दुहरी सफलता हुई—एक तो अभिनव प्रसंग-योजना के कारण, दूसरे प्रसंग को उपन्यास के मूल कथ्य की अन्विति में लाकर प्रभाव को घनीभूत करने के कारण। पर यदि प्रसंग मूल कथ्य को ठीक-ठीक अभिव्यक्त भी न कर सका, तो भी लेखक घाटे में नहीं रहता, क्योंकि तब पाठक उस प्रसंग को निरा प्रसंग समझ कर ही ग्रहण कर लेता है और उससे प्राप्त होने वाले मनोरंजन से सन्तुष्ट हो जाता है।

ऊपर गौण प्रसंगों की योजना के दो कारणों का उल्लेख हुआ है (एक तो यह कि प्रसंग प्रसंग के निमित अवतरित होते हैं और लेखक का अभिप्राय उनके द्वारा कथा को मनोरंजक बनाना होता है, दूसरा यह कि प्रसंग गौण प्रसंग रहते हुए और पाठकों का मनोरंजन करते हुए भी कथा के मूल अभिप्राय को व्यक्त करने वाले होते हैं।) प्रेमचन्द के उपन्यासों में आये गौण प्रसंग दूसरे दृष्टिकोण के कारण ही नियोजित होते हैं। उदाहरण के लिये 'गोदान' को ही लीजिये। उसका एक भी गौण प्रसंग ऐसा नहीं है जो निरा प्रसंग हो। उन प्रसंगों के पीछे जो अभिप्राय निहित हैं वे 'गोदान' के मूल अभिप्रायों से एकतान हैं। मिर्जा खुर्शेद मजदूरों को इकट्ठा करके कबड्डी खिलाते हैं। यह ऊपरी दृष्टि से देखने पर एक

निरा मनोरंजक प्रसंग मालूम होता है। लेकिन इसका विश्लेषण कीजिये तो कई बातें स्पष्ट होंगी।

मिर्जा खुर्शेद जरा अनोखी सूझ-बूझ के आदमी हैं। जब वह बेकार के बुड्ढों को छह-छह आने मजदूरी देकर कबड्डी खेलने के लिये 'बुक' कर लेते हैं, तो आप सोच सकते हैं कि वह बहुत दयालु हैं, दरियादिल हैं, गरीबों का भला चाहने वाले हैं। बेकार मजदूरों को सेंतमेंत की मजदूरी देते हैं। लेकिन ऐसा सोचना मिर्जा के बारे में गलत नतीजे पर पहुँचना होगा। वह मजदूरों को छह-छह आने बेकार नहीं देता। वह बूढ़ी कबड्डी का प्रचार कर, और टिकट बेच-बेचकर, हजारों वसूल करता है। कहावत है कि चतुर आदमी बाल से भी तेल निकालता है और समुद्र की तरंगें गिन कर पैसा कमाता है। मिर्जा खुर्शेद उसी कैंड़े के आदमी हैं। वह जिन्दादिल है माना, लेकिन अपने मतलब की बात नहीं भूलता। यह बात इसी से स्पष्ट है कि वह कम से कम दो हजार की भीड़ से, टिकट के दाम, जो दस रुपये से लेकर दो आने तक हैं, वसूल करता है। लेकिन मजदूरों को देता है छह-छह आने मजदूरी और एक-एक नारंगी बख्शीश। बाकी पैसे मिर्जा की जेब में गये होंगे, यह जानी हुई बात है। यदि बूढ़ी कबड्डी के विज्ञापनों, पोस्टरों और नोटिसों के खर्चों को वाद कह दिया जाय तो भी मिर्जा मुनाफे में ही रहा होगा। बेकार के मजदूरों पर एहसान जमाकर जो यश लूटा वह अलग।

यह सत्य है कि मिर्जा अमीरों से पैसा वसूल कर गरीबों में बाँटता है। इससे वह नाम भी कमाता है और अपनी अनोखी सूझ-बूझ और मेहनत का कमीशन भी पाता है। वह अपने वर्ग के अन्य लोगों से बहुत अच्छा है, लेकिन फिर भी उसी मुनाफाखोर वर्ग का सदस्य है, यह उसकी योजनाओं और क्रियाओं से स्पष्ट हो जाता है। ऊपर से जिन्दादिल, मस्तमौला और फक्कड़ दिखने वाला मिर्जा कितना काईयाँ है, और पैसे और नाम कमाने के कितने हथकंडे जानता है, यह स्पष्ट है। वह घर-फंक कर तमाशा देखने वाला नहीं है, अपने शुगल को भी कमाई का साधन बनाने वाला चतुर व्यक्ति है।

फिर इसी कबड्डी वाले प्रसंग को लीजिये। जब खेल अपनी पूरी गति में है तो सभी उत्सुक होकर उस ओर देख रहे हैं। लेकिन खन्ना और तंखा दूसरी ही

चिन्ता में हैं। खन्ना जिजर का ग्लास खाली करके सिगार सुलगाता है और राय साहब से व्यापार की बातें करने लगता है। पहले वह राय साहब को बैंक में रुपया लगाने को कहता है और फिर इन्श्योरेन्स की पॉलिसी और शूगर मिल के हिस्से खरीदने के लिये प्रेरित करता है। उधर मिस्टर तंखा मालती पर दूसरा ही जाल फेंकते हैं। वे मालती को उकसा रहे हैं कि वे इलेक्शन में खड़ी हो जायँ। जब मालती इनकार करती हैं तो वे तरह-तरह की बातों से उन्हें तैयार करना चाहते हैं।

खेल के मैदान में नफे और व्यापार की ये बातें अकारण नहीं हैं। इनसे खन्ना और तंखा का चरित्र स्पष्ट होता है। पहले भी शिकार के अवसर पर ये इस प्रकार की बातें कर चुके हैं। लेकिन फिर दुबारा खेल के मैदान में इनसे नफे और व्यापार की बातें करा कर लेखक ने इनके चरित्र के विपरीत-शील को पुष्ट कर दिया है। इन प्रसंगों के व्याज से प्रेमचन्द यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि खन्ना और तंखा जैसे लोग महाजनी सभ्यता के सबसे पुष्ट प्रतिनिधि हैं, जिनके लिये जीवन में रस, उल्लास और आनन्द-प्रमोद का कोई महत्त्व नहीं है। उनके लिये धन ही सब कुछ है और उसे कमाने के लिये ये अपना जाल किसी भी समय मौके-बेमौके फैला सकते हैं। शिकार और खेलों के अवसर पर भी ये अपने मतलब की बात नहीं भूलते। शिकार और खेल के इन गौण प्रसंगों के बीच खन्ना और तंखा का चरित्र जिस खूबी के साथ उभरता है, वह अन्य प्रसंगों के मध्य सम्भव नहीं था। इन दो प्रसंगों के बीच पड़कर इन दोनों पात्रों की दलाली-प्रवृत्ति नितान्त स्पष्ट हो गई है। यदि इन प्रसंगों की अवतारणा नहीं होती, तो खन्ना और तंखा के चरित्र के स्पष्ट करने के लिये लेखक को बहुत श्रम करना पड़ता।

ऊपर जिन थोड़े से प्रसंगों की विवृत्ति की गई है उससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में गौण प्रसंग कहने को ही गौण हैं, समग्र कृतित्व में उनका स्थान प्रायः बड़े महत्त्व का है। यदि यह सत्य है कि कोई कलाकृति निर्जीव वस्तु-खंड न होकर एक सजीव सम्पूर्णता है, तो उसके सभी अंग अनिवार्य रूप से एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़े होंगे कि किसी को गौण और किसी को प्रमुख कहकर

अलग नहीं किया जा सकेगा ।

जब कथा एक काल्पनिक कथा होती है, तो उसमें प्रमुख-कथा और गौण-कथा का अलग-अलग बँटवारा हो सकता है। लेकिन जब कथा कथा न होकर जीवन का सजीव चित्र है, तो उसमें चयन और बँटवारे का सिद्धान्त लागू नहीं होगा। चित्र में सजीवता और सार्थकता तभी तक है जब तक चित्र एक दूसरे के साथ हैं, हाड़-मांस और खून के रिश्ते से एक दूसरे से जुड़े हैं। ऐसी स्थिति में एक पात्र या प्रसंग, चाहे वह कितना ही छोटा और सामान्य क्यों न दिखता हो, अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण कृतित्व को एक परिणति देता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर हमें प्रेमचन्द या उन जैसे श्रेष्ठ लेखकों के कृतित्व का अध्ययन करना होगा। तभी कृतित्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य और सकल विचार-पक्ष उद्घाटित होगा।

भाषा-शैली

जहाँ व्यक्तित्व है वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है।

—प्रेमचन्द

—विविध प्रसंग ३, पृ० ४२६

आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द पर मुख्यत: दो लेखकों का प्रभाव माना जाता है—उर्दू लेखक रतननाथ 'सरशार' का और हिन्दी लेखक देवकीनन्दन खत्री का।

प्रेमचन्द और रतननाथ 'सरशार'

प्रेमचन्द हिन्दी के क्षेत्र में उर्दू से आये। उर्दू में उनके आदर्श सरशार ही थे। प्रेमचन्द के समय तक उर्दू में सरशार का ही बोलबाला था। अत: प्रेमचन्द का सरशार से प्रभावित होना उचित ही था। जिस समय प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी में हुआ, उस समय वे एक तरह से अलंकृत गद्य लिखते थे।[1] यह अलंकरण

---

(१) असरारे मआबिद से एक उदाहरण लीजिये—"शायरी की दुनिया में शमशाद के पेड़ जैसी लम्बी छरहरी चन्द्रमुखियाँ शिकारी मानी गई हैं और आधा हलाल करके छोड़ दिये गये आशिक उनके शिकार। उनकी जुल्फें वह जाल हैं जो उड़ती चिड़िया को हवा से उतार लेती हैं और आशिकों के दिल के पंछी को मुसीबत का कैदी बनाकर और दुख व गम में मुबतिला करके दर-बदर जंगलों और रेगिस्तानों में आवारों और पागलों की तरह फिराती हैं। इन्हीं सिलसिलेदार जुल्फों की पेंच में पड़कर बेचारे लुटे हुए तबाह आशिकों के लिये दुनिया की नेमतों से मजा उठाना हराम हो जाता है। उनकी कमानीदार भवें दो

की प्रवृत्ति उर्दू गद्य में तो थी ही, सरशार में भी थी। लगता है प्रेमचन्द ने यह वहीं से ली।

अलंकरण की प्रवृत्ति हिन्दी गद्य में भी है, और उसकी परम्परा काफी प्राचीन है। हिन्दी गद्य पर संस्कृत के अलंकरण-प्रधान गद्य का प्रभाव पड़ा। प्रारम्भिक हिन्दी लेखकों में इसके प्रभाव देखे जा सकते हैं। छायावाद और उसके बाद भी यह प्रभाव मलिन नहीं हुआ। प्रेमचन्द के समसामयिकों—विशेषकर प्रसादजी पर अलंकरण-प्रधान गद्य का प्रभाव स्पष्ट है। पर प्रेमचन्द पर पड़नेवाले प्रभाव इस दिशा से नहीं आये क्योंकि प्रेमचन्द का सम्बन्ध संस्कृत से नहीं था। उन्होंने जो कुछ उपलब्ध किया, वह उर्दू के माध्यम से ही।

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचनाओं में अलंकरण के तत्त्व हैं किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, अलंकरण के तत्त्व कम होते गये। यदि हम कारणों पर विचार करेंगे, तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही साहित्य को सत्य का वाहक बनाना चाहते थे। अतः उनकी भाषा-शैली का सरल और स्वाभाविक होना आवश्यक था।

सरशार का क्षेत्र सामन्त कालीन समाज था। उस समाज के चित्रण के लिये लकदक भाषा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी थी। किन्तु प्रेमचन्द के साथ ऐसी कोई विवशता नहीं थी। उन्हें तो वर्तमान में फैले सर्वसाधारण के जीवन को, उसके यथार्थ रूप में, प्रस्तुत करना था। इसके लिये सरल और स्वाभाविक भाषा की आवश्यकता थी। जैसे-जैसे उनका साहित्य सत्य के निकट पहुँचता गया वैसे-वैसे उनकी शैली सरल होती गई। 'गोदान' उनका अन्तिम उपन्यास है, जिसमें उनका लक्ष्य कथा नहीं, मनोरंजन नहीं, आदर्श स्थापन नहीं, सिर्फ जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति है। अतः 'गोदान' में आकर उनकी शैली पहले की

असफहानी तलवारें हैं जिनमें आशिकों को तड़पा-तड़पाकर कत्ल करने का मादा अपने आप मौजूद है। उनकी पलकों की नोक वह छुरी की नोक है जो आशिकों के दिल में चुभकर ऐसा दर्द पैदा करती है कि बेचारों की जिन्दगी दूभर हो जाती है।"

अपेक्षा अधिक सरल, अधिक स्वाभाविक और अधिक यथार्थ हो गई है।

सरशार की विशेषता उनकी मुहावरेदार भाषा है। यह प्रेमचन्द में भी है। प्रारम्भ में प्रेमचन्द भी सरशार की भाँति कहीं-कहीं भाषा को मुहावरों से लाद देते हैं जैसे—"उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा, शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सकें।" लेकिन पीछे चलकर मुहावरों का प्रयोग मर्यादानुकूल हो जाता है।

मुहावरों का अत्यधिक प्रयोग हिन्दी की प्रकृति और परम्परा के अनुकूल है भी नहीं, वह उर्दू की ही प्रकृति और परम्परा है और उसी के योग्य है। उर्दू गद्य में जो एक चलतापन, शोखी, चटक और छेड़छाड़ है, हिन्दी गद्य की प्रकृति उससे भिन्न है। उसमें एक गरिमा, गम्भीरता और स्थैर्य है। हिन्दी और उर्दू की प्रकृति का यह अन्तर दो जातियों और दो संस्कृतियों के स्वभाव का अन्तर है।

सरशार ने मुहावरों का प्रयोग इसलिये भी किया कि उनका वर्ण्य-विषय भी बहुत कुछ चलता-सा था। उसे चित्रित करने के लिये चलती भाषा आवश्यक थी। सामन्तकालीन परिस्थितियों और जीवन में जो राग-रंग, तड़क-भड़क और चटकीलापन था उसे चित्रित करने के लिए रंगारंग, चटकीली भाषा आवश्यक थी। शायद इसी लिये सरशार ने मुहावरों का बहुतायत से प्रयोग किया। इसके विपरीत प्रेमचन्द का वर्ण्य-विषय साधारण, सहज और सत्य था। अतः उसके लिये सहज और साधारण भाषा ही अपेक्षित थी। प्रेमचन्द ने इसीलिये भाषा की सरलता और सहजता पर विशेष बल दिया।

सरशार की भाषा में एक प्रकार का वैविध्य है। इसका कारण यह है कि उनके सभी पात्रों की अपनी अलग-अलग भाषा है। पात्र संख्या में थोड़े नहीं हैं। समाज के विभिन्न वर्गों से वे अपनी-अपनी बोली लेकर आते हैं और भाषा का विपुल वैविध्यपूर्ण रूप प्रस्तुत करते हैं। भाषा का यह वैविध्य प्रेमचन्द में भी है। उनके पात्रों की भी अपनी अलग-अलग भाषा है। पर भाषा के इस वैविध्य को लेकर सरशार और प्रेमचन्द में पर्याप्त अन्तर भी है। सरशार में भाषा का

जो वैविध्य है उसे उपस्थित करने के लिये सरशार को मेहनत नहीं करनी पड़ी है। कारण वे जिस वर्ग के पात्रों की भाषा प्रस्तुत करते हैं वे अपने यथार्थ जीवन में भी उसी भाषा का उपयोग करते हैं जो कि पुस्तक में बोलते हैं। सरशार ने भाषा का यह वैविध्य यथार्थ जगत या जीवन से ही लिया है। लेकिन प्रेमचन्द के पात्रों में भाषा का जो वैविध्य है वह प्रेमचन्द को गढ़ना पड़ा है। उनके पात्र जिस वर्ग के व्यक्ति हैं उस वर्ग के व्यक्ति वैसी भाषा नहीं बोलते जैसी कि पुस्तक में उनके लिये प्रयुक्त हुई है। वे अपने यथार्थ जीवन में किसी न किसी बोली से ही काम चलाते हैं। मुस्लिम समाज के प्रत्येक वर्ग में उर्दू बोलचाल के माध्यम के रूप में भी प्रचलित है। किन्तु हिन्दू समाज के किसी वर्ग में हिन्दी सामान्य बोलचाल की भाषा नहीं है। बोलचाल की भाषा कोई न कोई बोली है। अतः प्रेमचन्द को भाषा के वैविध्य को स्वाभाविक और सार्थक बनाने के लिये काफी श्रम करना पड़ा होगा।

इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की एक दूसरी कठिनाई का भी ख्याल रखना होगा। आजकल भाषा को पात्रों के अधिक उपयुक्त बनाने के लिये बोलियों के शब्द ही उठा लिये जाते हैं या बोलियों के वाक्यों का ही व्यवहार कर दिया जाता है। यह प्रकृति पहले के लेखकों में भी थी, पर इधर के आंचलिक उपन्यासकारों में और कथाकारों में खूब दिखाई देने लगी है। रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में, नागार्जुन के 'नई पौध', 'बलचनमा', 'बाबाबटेसरनाथ' आदि में उदयशंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' में तथा अमृतलाल नागर के 'सेठ बाँकेमल' आदि उपन्यासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। बोली के वाक्यों अथवा शब्दों को लेकर भाषा को यथार्थ वैविध्यपूर्ण और ग्रामीण पात्रों के उपयुक्त बना देना अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी लिखते हुए भी भाषा में वैविध्य, यथार्थता और ग्रामीण-संस्कार बनाये रखना कठिन है। प्रेमचन्द ने इस कठिन काम को किया। कहीं भी बोलियों या बोली के कल्पित भ्रष्ट शब्दों का अतिरंजित सहारा न लेते हुए उन्होंने अपने पात्रों को उपयुक्त भाषा दी।

हर तरह के पेशे की एक अपनी शब्दावली होती है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में तांगेवालों की भाषा और

शब्दावली का सुन्दर नमूना प्रस्तुत किया था। बाद के हिन्दी लेखकों में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। एक विशेष प्रकार की शब्दावली का सहारा लेकर किसी विशेष वर्ग के पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करना अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन प्रेमचन्द ने ऐसा नहीं किया। सामान्य शब्दावली के विवेकपूर्ण प्रयोग से ही उन्होंने अलग-अलग पात्रों को अलग-अलग व्यक्तित्व दिया, यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है।

सरशार का कथा-क्षेत्र ह्रासोन्मुख सामंतकालीन मुस्लिम समाज है। प्रेमचन्द की सीमा इतनी ही नहीं है। उन्होंने पूरे भारतीय समाज को, विभिन्न वर्गों को आनुपातिक महत्त्व देते हुए, यथार्थ रूप में उपस्थित किया। उनके उपन्यासों में हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई समाज के सभी वर्गों का चित्रण और वर्णन है। सरशार की तुलना में प्रेमचन्द का कथा-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

प्रेमचन्द और देवकीनन्दन खत्री

प्रेमचन्द पर देवकीनन्दन खत्री का प्रभाव इस अर्थ में है कि प्रेमचन्द भी कथा कहने के लिये सरल भाषा आवश्यक समझते हैं। प्रेमचन्द के पूर्व खत्रीजी ही एक ऐसे लेखक थे, जिन्होंने अपनी भाषा की सरलता से पाठकों के मन को जीता था। लेकिन प्रेमचन्द पर खत्रीजी के प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना है। खत्रीजी की सरलता का कारण उनका वर्ण्य-विषय और उनके पाठक हैं। खत्रीजी का वर्ण्य-विषय ऐसा है कि उसके लिये कोई विशिष्ट भाषा-शैली आवश्यक नहीं है। कथा वर्णन-प्रधान होने के कारण भाषा की सरलता की अपेक्षा करती है। खत्रीजी के पाठक भी प्रायः ऐसे हैं जिनमें विकसित साहित्याभिरुचि की प्रधानता नहीं है और न उनका शब्द-कोष ही समृद्ध है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि खत्रीजी की सरलता सकारण है। विषय और पाठक को ध्यान में रखकर ही खत्रीजी ने वैसी भाषा का प्रयोग किया है। यदि वे सरलता का आदर्श छोड़ देते, तो न तो अपने पाठकों के बीच लोकप्रिय हो पाते और न विषय का उतना सुन्दर निर्वाह और प्रकाशन होता। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सरलता के अतिरिक्त उनके लिये और कोई चारा नहीं

था। पर प्रेमचन्द के साथ ऐसी बात नहीं है। उनके पाठक विकसित साहित्याभिरुचि से सम्पन्न पढ़े-लिखे लोग हैं। उनका शब्द-कोष भी अपेक्षाकृत समृद्ध है। यदि प्रेमचन्द कुछ कठिन भाषा भी लिखते, तो उनके पाठकों की ओर से कोई आपत्ति नहीं होती और न विषय की गरिमा को देखते हुए वह अनावश्यक समझी जाती। प्रेमचन्द का वर्ण्य-विषय ऐसा है कि उसे देखते हुए किंचित् कठिन भाषा क्षम्य समझी जा सकती है। उनके साहित्य में जीवन के यथार्थ का जो विशद प्रत्यक्षीकरण है वह भाषा की कठिनता के औचित्य को सिद्ध करने वाला है। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी प्रेमचन्द ने सरलता के आदर्श का परित्याग नहीं किया। यही उनकी सरलता को विशिष्टता का गौरव देने में समर्थ है।

प्रेमचन्द की सरलता

सुप्रसिद्ध आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा ने यह ठीक ही कहा है कि प्रेमचन्द की सरलता अखबारनवीसी की सरलता नहीं है। वे सरल हैं, किन्तु सस्ते (चीप) नहीं। प्रेमचन्द की सरलता का अपना संस्कार है, औसत पत्रकारों की सस्ती सरलता की भाँति संस्कार विहीन नहीं है और न वह शीघ्र-लेखन का परिणाम है। अखबारनवीसी की सरलता 'काता और ले भागे' की प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है जबकि प्रेमचन्द की सरलता के पीछे विवेक और विवेचन दोनों हैं।

सरलता प्रेमचन्द के बाद भी लक्षित होती है, विशेषकर जैनेन्द्र में। लेकिन जैनेन्द्र की सरलता आयास-सिद्ध है, जबकि प्रेमचन्द में वह स्वाभाविक रूप में उपलब्ध है। जैनेन्द्र बहुधा वाक्य की बनावट में हेर-फेर करके सरलता का आभास उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। इसलिये वह कृत्रिम हो जाती है। प्रेमचन्द की सरलता वैसी सरलता नहीं है। प्रेमचन्द की सरलता उनका स्वाभाविक गुण है जबकि जैनेन्द्र उसका अर्जन करते हैं। जैनेन्द्र की सरलता में चमत्कार की प्रधानता है। वे सरल दीखते हैं, यथार्थतः सरल हैं नहीं। उनकी सरलता में भी एक प्रकार का उलझाव और अस्पष्टता है।

वर्णन के क्रम में प्रायः सभी लेखकों को अलंकृत गद्य-शैली का सहारा लेना

पड़ता है। इसके बिना अधिकांश का काम ही नहीं चलता। लेकिन प्रेमचन्द वर्णनों में भी अपनी भाषा सरल रखते हैं। वे वर्णन के विस्तार में नहीं जाते, कुछ ही पंक्तियों में वस्तु, व्यक्ति या स्थिति को स्पष्ट कर देने की चेष्टा करते हैं। सुडौल रेखाओं और गाढ़े रंगों की अपेक्षा सूक्ष्म रेखांकनों और फीके रग से चित्र को प्रभावशाली बनाना अपेक्षाकृत कठिन है। प्रेमचन्द ने इस कठिन कार्य को किया है।

अन्य लेखक—प्रेमचन्द के समकालीन भी—वर्णनों में बहुत रस लेते हैं। एक-एक वस्तु और एक-एक पात्र का पूरा-पूरा चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन प्रेमचन्द ऐसा नहीं करते। लगता है उन्हें अवकाश नहीं है, बहुत शीघ्रता में हैं। उनका चित्र-फलक बहुत बड़ा है, उन्हें अनेक छोटे-बड़े, प्रधान-अप्रधान चित्र गढ़ने हैं। यदि वे हर छोटी वस्तु पर इतना ध्यान देगें, तो उनके पास इतना समय कहाँ है। इसलिये थोड़े समय में, थोड़ी-सी रेखाओं और थोड़े-से रंगों से ही, वह अपने चित्र को इतना विश्वसनीय बना देते हैं कि चित्र के सम्बन्ध में पाठकों को कोई भ्रम नहीं रह जाता, वह पूर्ण और प्रभावशाली होता है। जिस चित्र को विश्वसनीय और जीवंत बनाने के लिये दूसरे लेखक पचासों शब्द, अनन्त रेखाएँ और ढेर सारे रंग खर्च करते हैं उसे प्रेमचन्द दस-बीस शब्दों, कुछ रेखाओं और थोड़े से रंगों में ही चित्रित कर देते हैं। शब्दों, रेखाओं और रंगों की यह मितव्ययिता कलाकार का बहुत बड़ा गुण है। यह लेखक के संयम और साधना का परिचायक है।

प्रेमचन्द की शैली के चार प्रधान गुण

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा ने प्रेमचन्द की शैली के चार गुण माने हैं: (१) आत्यंतिक निश्चयात्मकता, (२) आत्यंतिक स्वाभाविकता, (३) स्थिति-स्थापकता और (४) अनिवार्य औचित्य।

प्रेमचन्द के कहने में कहीं कोई चूक नहीं है। यही उनकी आत्यंतिक निश्चयात्मकता है। वे जो कुछ भी कहना चाहते हैं, उसे एकदम ठीक-ठीक कहते हैं। प्रेमचन्द की यह क्षमता उनके शब्दकोष को देखते हुए सराहनीय है। यदि

शब्दकोप समृद्ध और विशाल हो, तो यह आत्यंतिक निश्चयात्मकता लाई जा सकती है। लेकिन एक सरल और सामान्य शब्दकोष के सहारे ऐसा कर दिखाना जीवट का काम है।

प्रेमचन्द का शब्दकोष अपेक्षाकृत सीमित है। एक ओर तो संस्कृत के विशाल शब्द-भंडार से उनका परिचय नहीं के बराबर है, दूसरी ओर उर्दू के शब्द-भंडार पर उनका अधिकार है, लेकिन उसका प्रयोग वे बहुत हिसाब से करते हैं। प्रेमचन्द उर्दू से आकर भी अपनी भाषा को उर्दू के शब्दों से बहुत हद तक मुक्त रख सके हैं, यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। यह संयम और साधना के कारण ही संभव हो सका। जब हम हिन्दी के कुछेक लेखकों को, जो बहुत थोड़े से उर्दू शब्दों को जानते हैं पर उनका धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, देखते हैं और फिर प्रेमचन्द के साहित्य पर दृष्टि डालते हैं, तो विस्मय होता है। प्रेमचन्द को अपने आप पर कितना अधिकार था।

जहाँ शब्दकोष का सीमित होना लेखक के लिये एक कठिनाई है वहाँ उसकी सम्पन्नता उसके लिये अभिशाप भी हो जा सकती है। शब्दकोष समृद्ध होने पर, सम्भव है, लेखक उसका दुरुपयोग कर बैठे। बहुत से लेखक शब्दों के इस दुरु-पयोग का परिचय देते हैं। प्रेमचन्द का शब्दकोष शेक्सपीयर या चर्चिल की तरह बहुत समृद्ध नहीं है, इसलिये शब्दों के दुरुपयोग की सम्भावना भी नहीं होती। उन्होंने अपने सीमित शब्दकोष का मितव्ययिता से उपयोग किया है। यही उनकी विशेषता है।

प्रेमचन्द की आत्यंतिक स्वाभाविकता उनकी शैली की सहज सरलता है। इसी के बल पर वे पाठकों से आत्मीयता स्थापित करते हैं। कृतित्व के प्रभाव को घनीभूत करने के लिये यह आत्मीयता आवश्यक है। यदि पाठक लेखक से दूरी का अनुभव करे, तो वह कृतित्व के साथ तदाकृत नहीं हो पाता। लेखक और पाठक के बीच यह स्थिति अभीष्ट नहीं है। प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में अपनी सहज-सरल कथन-शैली से एक आत्मीयतापूर्ण वातावरण खड़ा कर देते हैं और पाठक उसमें खो जाता है।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली अत्यन्त लचीली है। यही उसकी स्थिति-स्थापकता

है। वे जब, जहाँ, जैसे चाहते हैं भाषा को अपने ढंग से मोड़ लेते हैं। भाषागत वैविध्य इसी स्थिति-स्थापकता का प्रमाण है। प्रेमचन्द को भाषा का पूर्ण सहयोग सहज सुलभ है। वे भाषा पर शासन नहीं करते। ऐसा नहीं लगता कि वे भाषा को बलात् अपने काम में ला रहे हैं और वह उनके पजे से छूटकर निकल भागना चाहती है। उनकी भाषा एक सहयोगिनी की भांति उनका अनुगमन करती है और उन्हें हर जगह, हर सम्भव, सहयोग देती है। यही उनकी स्थिति-स्थापकता है।

अनिवार्य औचित्य प्रेमचन्द में प्रभूत मात्रा में है। वे छायावाद युग में अवतीर्ण हुए। उस समय भाषा-शैली में भावुकता का अतिरेक, अलंकरण का प्राधान्य और स्वप्नमयता थी। औचित्य का प्राय: अभाव-सा था। उक्ति सुन्दर और काव्यात्मक है, इतना पर्याप्त समझा जाता था। औचित्य और अनिवार्यता पर ध्यान नहीं जाता था। यह अभाव छायावादी शैलीकारों में स्पष्ट है। प्रेमचन्द इसे सहन नहीं कर सके। उन्हें यथार्थ का विशद प्रत्यक्षीकरण अभीष्ट था। इसके लिये भाषा का अनिवार्य औचित्य आवश्यक समझा गया।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली पर विचार करने के क्रम में सबसे पहले यह मान लेना होगा कि वे उस अर्थ में शैलीकार नहीं थे जिस अर्थ में गुस्ताफ फलावेयर या एमिल जोला का नाम लिया जाता है। शैली सम्बन्धी आत्यंतिक सचेष्टता अथवा सतर्कता प्रेमचन्द में प्राय: नहीं के बराबर है। यदि हंसराज 'रहबर' का यह कथन मान भी लिया जाय कि प्रारम्भ में प्रेमचन्द ने रतननाथ सरशार, मौलाना मुहम्मद हसन आजाद, वंकिमचन्द्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि कई लेखकों की शैली को एक साथ अपनाने का असफल प्रयास किया,[1] तो भी यह मानना होगा कि आगे चलकर, बहुत शीघ्र ही, प्रेमचन्द ने अपनी इस कमजोरी पर विजय प्राप्त कर ली।

जिस प्रकार प्रेमचन्द ने साहित्य को भव्यतर जीवन-निर्माण का अद्वितीय साधन माना, उसी प्रकार शैली भी उनके लिए वर्ण्य-विषय को अचूक अभिव्यक्ति

---

(१) प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व।

देने का सफल साधन थी। सुप्रसिद्ध समालोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा का यह कथन सही है कि "प्रेमचन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले खेवे के अंग्रेजी उपन्यासकारों के द्वारा विकसित उपन्यास-स्थापत्य को उतना अधिकृत किया था जितना उनके समकालीन हिन्दी के दूसरे उपन्यासकार नहीं कर पाये थे।" इसका सबसे पुष्ट प्रमाण तो यही है कि "उपन्यास में घटनाओं के यौगपदिक संक्रमण का कौशल आज औसत उपन्यासकार के बायें हाथ का खेल है किन्तु प्रेमचन्द ने उसे तब सिद्ध किया था जब न केवल हिन्दी के बल्कि बंगला के उपन्यासकार भी पाठकों से आत्मीयता स्थापित कर उन्हें कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे मुड़ने को लाचार करते थे।"[1] लेकिन इतना होने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि प्रेमचन्द ने अपने आपको किसी शैली विशेष पर कभी केन्द्रित करके सीमित नहीं किया।

प्रेमचन्द के समय तक 'कला कला के लिये' का आन्दोलन काफी गति पा चुका था। पर इस आन्दोलन की ओर प्रेमचन्द आकृष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे कलावादी नहीं थे। पर कला या शैली के प्रति प्रेमचन्द के मन में निर्मम उपेक्षा रही हो, यह बात भी नहीं थी। सच तो यह है कि शैली और वस्तु अलग-अलग प्रतीत होने पर भी दो हैं नहीं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार स्तान्धाल के विचार ध्यान देने योग्य हैं। उनके अनुसार शैली का महत्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाय जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हैं। इससे स्पष्ट है कि शैली विषय वस्तु से भिन्न कोई नितान्त बाहरी वस्तु नहीं हैं। इसलिये जब शैली के सम्बन्ध में पोप का यह कथन उपस्थित किया जाता है कि शैली विचारों की वेशभूषा है (Style is the dress of thought) तो कार्लाइल के मत को माननेवाले लोग आपत्ति करते हैं और कहते हैं शैली लेखक की वेशभूषा नहीं, अपितु त्वचा है (Style is not the coat of a writer but his skin)। जिस प्रकार त्वचा

(१) साहित्य : अंक ३, वर्ष ५, अक्तूबर १९५४।

का माँस पेशियों और स्नायुयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार शैली भी लेखक के विचारों और वर्ण्य-विषय से घनिष्ठ भाव से संयुक्त होती है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ कलाकृति में शैली सम्बन्धी आत्यंतिक सचेष्टता नहीं रहने पर भी शैली की निर्मम उपेक्षा नहीं होती। कलाकृति का श्रेष्ठ और विराट् वस्तु-तत्त्व अपने-आपमें एक अभिनव शैली लिये रहता है और वह लेखक के अनजान में ही अपना रूपाकार ग्रहण करती है। यही कारण है कि विश्व के सर्व-श्रेष्ठ कलाकारों में शैली सम्बन्धी सचेष्टता नहीं रहने पर भी शैली का वह रूप उपलब्ध है जो सचेष्ट शैलीकारों के लिये कल्पना की वस्तु है।

प्रेमचन्द के मानस में भारतीय जन-समाज इस प्रकार कुंडली मारे बैठा था कि उन्हें शैली सम्बन्धी प्रयोगों और ऊहापोहों के लिये अवकाश ही नहीं था। यह सही है कि वे अपनी कृतियों पर पर्याप्त मेहनत करते थे, बहुधा उनका पुनर्लेखन या काट-छाँट भी करते थे, पर ऐसा वे शैली सम्बन्धी किसी आग्रह या दुराग्रह के कारण नहीं करते थे। कथा को किस प्रकार अधिक से अधिक स्वा-भाविक और प्रभावशाली बनाया जाय, उसमें किस प्रकार जीवन की उष्णता और गति लाई जाय, चरित्रों को किस ढंग से संवारा जाय कि वे सशक्त और जीवन्त प्रतीत हो, अधिकांश में इन्हीं प्रश्नों को लेकर प्रेमचन्द मेहनत करते थे। एक-एक शब्द या वाक्य को लेकर माथापच्ची करना उनका स्वभाव नहीं था। विवरणों या चित्रणों में अधिक आसक्ति उनमें नहीं के बराबर है। लगता है उनका वर्ण्य-विषय बादलों की भाँति उमड़ता-घुमड़ता उनके मानसाकाश में आता है और वे बड़ी जल्दीबाजी में उन्हें लिपिबद्ध करते हैं। स्वर्णकार की तरह आभू-षण के दाने-दाने को रचना प्रेमचन्द का स्वभाव नहीं है। अनुभव की विराटता और विशालता के कारण यह संभव नहीं था कि प्रेमचन्द हाथी-दाँत पर मीना-कारी करते। यह आवश्यक भी नहीं था। यदि यह कथन सत्य है कि "शैली न तो केवल अनुभूत विषय-वस्तु का धर्म है और न कहने के तरीके का ही वरन् शैली की आत्मा मुख्यतः वे सम्बन्ध हैं जिनके ढाँचे में अनुभूत विषय-वस्तु को

देने का सफल साधन थी। सुप्रसिद्ध समालोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा का यह कथन सही है कि "प्रेमचन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले खेवे के अंग्रेजी उपन्यासकारों के द्वारा विकसित उपन्यास-स्थापत्य को उतना अधिकृत किया था जितना उनके समकालीन हिन्दी के दूसरे उपन्यासकार नहीं कर पाये थे।" इसका सबसे पुष्ट प्रमाण तो यही है कि "उपन्यास में घटनाओं के यौगपदिक संक्रमण का कौशल आज औसत उपन्यासकार के बायें हाथ का खेल है किन्तु प्रेमचन्द ने उसे तब सिद्ध किया था जब न केवल हिन्दी के बल्कि बंगला के उपन्यासकार भी पाठकों से आत्मीयता स्थापित कर उन्हें कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे मुड़ने को लाचार करते थे।"[१] लेकिन इतना होने पर भी यह तो कहा ही जायगा कि प्रेमचन्द ने अपने आपको किसी शैली विशेष पर कभी केन्द्रित करके सीमित नहीं किया।

प्रेमचन्द के समय तक 'कला कला के लिये' का आन्दोलन काफी गति पा चुका था। पर इस आन्दोलन की ओर प्रेमचन्द आकृष्ट नहीं हुए, क्योंकि वे कलावादी नहीं थे। पर कला या शैली के प्रति प्रेमचन्द के मन में निर्मम उपेक्षा रही हो, यह बात भी नहीं थी। सच तो यह है कि शैली और वस्तु अलग-अलग प्रतीत होने पर भी दो हैं नहीं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार स्तान्धाल के विचार ध्यान देने योग्य हैं। उनके अनुसार शैली का महत्व इसमें निहित है कि दिये हुए विचार के साथ उन सब परिस्थितियों को जोड़ दिया जाय जो कि उस विचार के अभिमत प्रभाव को सम्पूर्णता में उत्पन्न करने वाली हैं। इससे स्पष्ट है कि शैली विषय वस्तु से भिन्न कोई नितान्त बाहरी वस्तु नहीं हैं। इसलिये जब शैली के सम्बन्ध में पोप का यह कथन उपस्थित किया जाता है कि शैली विचारों की वेशभूषा है (Style is the dress of thought) तो कार्लाइल के मत को माननेवाले लोग आपत्ति करते हैं और कहते हैं शैली लेखक की वेशभूषा नहीं, अपितु त्वचा है (Style is not the coat of a writer but his skin)। जिस प्रकार त्वचा

---

(१) साहित्य : अंक ३, वर्ष ५, अक्तूबर १९५४।

का माँस पेशियों और स्नायुयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार शैली भी लेखक के विचारों और वर्ण्य-विषय से घनिष्ठ भाव से संयुक्त होती है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ कलाकृति में शैली सम्बन्धी आत्यंतिक सचेष्टता नहीं रहने पर भी शैली की निर्मम उपेक्षा नहीं होती। कलाकृति का श्रेष्ठ और विराट् वस्तु-तत्त्व अपने-आपमें एक अभिनव शैली लिये रहता है और वह लेखक के अनजान में ही अपना रूपाकार ग्रहण करती है। यही कारण है कि विश्व के सर्व-श्रेष्ठ कलाकारों में शैली सम्बन्धी सचेष्टता नहीं रहने पर भी शैली का वह रूप उपलब्ध है जो सचेष्ट शैलीकारों के लिये कल्पना की वस्तु है।

प्रेमचन्द के मानस में भारतीय जन-समाज इस प्रकार कुंडली मारे बैठा था कि उन्हें शैली सम्बन्धी प्रयोगों और ऊहापोहों के लिये अवकाश ही नहीं था। यह सही है कि वे अपनी कृतियों पर पर्याप्त मेहनत करते थे, बहुधा उनका पुनर्लेखन या काट-छाँट भी करते थे, पर ऐसा वे शैली सम्बन्धी किसी आग्रह या दुराग्रह के कारण नहीं करते थे। कथा को किस प्रकार अधिक से अधिक स्वाभाविक और प्रभावशाली बनाया जाय, उसमें किस प्रकार जीवन की उष्णता और गति लाई जाय, चरित्रों को किस ढँग से संवारा जाय कि वे सशक्त और जीवन्त प्रतीत हो, अधिकांश में इन्हीं प्रश्नों को लेकर प्रेमचन्द मेहनत करते थे। एक-एक शब्द या वाक्य को लेकर माथापच्ची करना उनका स्वभाव नहीं था। विवरणों या चित्रणों में अधिक आसक्ति उनमें नहीं के बराबर है। लगता है उनका वर्ण्य-विषय बादलों की भाँति उमड़ता-घुमड़ता उनके मानसाकाश में आता है और वे बड़ी जल्दीबाजी में उन्हें लिपिबद्ध करते हैं। स्वर्णकार की तरह आभूषण के दाने-दाने को रचना प्रेमचन्द का स्वभाव नहीं है। अनुभव की विराटता और विशालता के कारण यह संभव नहीं था कि प्रेमचन्द हाथी-दाँत पर मीनाकारी करते। यह आवश्यक भी नहीं था। यदि यह कथन सत्य है कि "शैली न तो केवल अनुभूत विषय-वस्तु का धर्म है और न कहने के तरीके का ही वरन् शैली की आत्मा मुख्यत: वे सम्बन्ध हैं जिनके ढाँचे में अनुभूत विषय-वस्तु को

समाहित या व्यवस्थित किया जाता है"[१] तो मानना होगा कि प्रेमचन्द की रचनाओं में शैली अपने-आप एक उत्कृष्ट रूपाकार ग्रहण करने के लिये विवश थी। एक पैदाइशी किस्सागो होने के नाते प्रेमचन्द अनुभूत विषय-वस्तु को व्यवस्थित ढंग से पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने के फन में माहिर थे। किस्सा कहने का यह लासानी ढंग उनका अर्जित गुण नहीं, स्वभाव था। इसलिये उनकी रचनाओं में विषय-वस्तु के अनुरूप जो शैली की सहजता है, प्रकारान्तर से वही शैली का वैशिष्ट्य है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द के मन में शैली सम्बन्धी कोई आग्रह नहीं था उसी प्रकार शैली के सम्बन्ध में उनका कोई निषेधात्मक रुख भी नहीं था। इस संबंध में हम सुप्रसिद्ध समालोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा की इस उक्ति से कि "प्रेमचन्द ने बीसवीं शताब्दी के अग्रेसर पाश्चात्य उपन्यासकारों के चेतना के प्रवाह, कैमरा की आँखें, अन्तरालाप (इण्टीरियर मोनोलॉग) वाले स्थापत्य कौशल से अपने को दूर ही रखा है,"[२] असहमत हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के सरल, सामाजिक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी वर्ण्य-विषय को देखते हुए बीसवीं शताब्दी के अग्रेसर पाश्चात्य उपन्यासकारों के शिल्प की कोई उपयोगिता नहीं थी। इसलिये प्रेमचन्द का उनके शिल्प की ओर आकर्षित होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी। फिर उससे दूर रहने की बात कहाँ उठती है? जिस प्रकार प्रेमचन्द ने शैली को लेकर कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं किया उसी प्रकार कोई उपेक्षा भी नहीं बरती। लेकिन इतना होने पर भी उनकी रचनाओं में शैली सम्बन्धी वे सभी गुण पाये जाते हैं जिनका समालोचकों ने उल्लेख किया है।

पाठकों के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने और वर्ण्य-विषय को लोकग्राह्य बनाने की दृष्टि से शैली के पाँच गुण माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं—स्पष्टता (परस्पिक्विटी), सजीवता (विवेसिटी), लालित्य (एलिगेंस), उल्लास (एनिमेशन) और लय (म्यूजिक)। इसी से मिलता-जुलता मत मिंटो का है। उसके अनुसार शैली के छः गुण हैं जो इस प्रकार हैं—सरलता (सिम्प्लिसिटी),

---

(१) हिन्दी साहित्य कोष। (२) साहित्य, अक्तूबर १९५४।

स्वच्छता (क्लीयरनेस), प्रभावोत्पादकता (स्ट्रैंग्थ), मर्मस्पर्शिता (पैथोस), प्रसंगबद्धता (हार्मनी) और स्वरलालित्य (मैलोडी)।

प्रेमचन्द की रचनाओं में कमोबेश कर ये सभी गुण उचित अनुपात में पाये जाते हैं। कहीं-कहीं एक ही प्रघट्टक (पैरा) में कई गुणों का समन्वित रूप उपस्थित हुआ है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरणों का अनुशीलन मनोरंजक होगा।

"उसने पीछे फिर कर देखा। कजरी गाय पूंछ से मक्खियाँ उड़ाती, सिर हिलाती, मस्तानी मंद गति से झूमती चली जाती थी, जैसे बांदियों के बीच में कोई रानी हो।" (पृ० १२, गोदान) इस वर्णन में कितनी सजीवता है। आँखों के आगे एक पूरा चित्र ही खड़ा हो जाता है। प्रेमचन्द की रचनाएँ ऐसे सबल, सुपुष्ट ग्रामीण चित्रों का सुन्दर अलबम ही हैं। ऐसे ही चित्रों को ध्यान में रखकर यह कहना कि "प्रेमचन्द के चित्र सर्वांगपूर्ण होते हैं, उनमें सादे पर गहरे रंगों का यथेष्ट समावेश रहता है और उनका अंकन सधी और निर्भीक उंगलियों से परिचालित तूलिका के द्वारा होता है"[1] सही मालूम होता है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—"होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं? इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताका हैं?" इन पंक्तियों में जीवन का जो स्वाभाविक उल्लास और शक्ति है उसे इतने थोड़े में व्यक्त कर दिखाना प्रेमचन्द के वश की ही बात थी।

एक और उदाहरण—"हीरा ने उसे सिर से पाँव तक देखकर कहा—तुम भी तो बहुत दुबले हो गये दादा। होरी ने हंसकर कहा—तो क्या यह मेरे मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं जिन्हें न रिन की सोच होती न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो तब है कि सभी मोटे हों।" इन पंक्तियों में जो प्रसंगबद्धता है, वह ध्यान देने योग्य है। एक तरफ तो होरी आज की विषम

---

(१) श्री नलिन विलोचन शर्मा : दृष्टिकोण : पृ० २५।

सामाजिक-व्यवस्था और उसके निर्मम ठेकेदारों पर चुभता हुआ व्यंग्य-वाण छोड़ता है और दूसरी ओर हीरा की स्नेह भरी बात का उत्तर भी देता है। इसे ही कहते हैं सफल कलाकार के कथोपकथन का कौशल। "धनिया ने होरी की देह छुई तो उसका कलेजा सन्न से रह गया। मुख कान्तिहीन हो गया। काँपती हुई आवाज में बोली—कैसा जी है तुम्हारा ?" इन पंक्तियों में शैली सम्बन्धी कौन गुण नहीं है ? स्वच्छता, सरलता, प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता सब कुछ है। धनिया के सबल और दृढ़ व्यक्तित्व को देखते हुए ये पंक्तियाँ कितनी व्यंजक हैं, इसे आसानी से समझा जा सकता है। शैली के अनेक गुणों को लाकर एक जगह कुछेक पंक्तियों में इकट्ठा कर देना प्रेमचन्द की विशेषता है।

"तीसरे दिन रूपा उससे खेत में मिली। उसने पूछा—रूपिया तूने लिलिया का लड़का देखा है ? रूपिया बोली—देखा क्यों नहीं ? लाल-लाल है, खूब मोटा, बड़ी-बड़ी आँखें हैं, सिर में झबराले बाल हैं। टुकुर-टुकुर देखता है।" इन पंक्तियों में कितना लालित्य और उल्लास है। लेकिन साथ ही कितनी मर्मस्पर्शिता (पैथोस) भी है। हम जानते हैं कि वह शिशु उस माँ के गर्भ से उत्पन्न हुआ है जिसके लिये समाज में कोई स्थान नहीं। उसका पिता भी उसे गोद लेते और प्यार करते जी चुराता है।

पैथोस का सबसे सुन्दर उदाहरण 'गोदान' की ये पंक्तियाँ हैं। "धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—'महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।' और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।" यहाँ धनिया के एक-एक शब्द और एक-एक क्रिया से करुणा, शोक, दुख और कातरता की ध्वनि फूट-फूटकर निकलती है।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता उनके पात्रों के कथोपकथन हैं। कथोपकथन के तीन आवश्यक गुण माने गये हैं—प्रत्युत्पन्नमतित्व, सौजन्य और संगति। ये तीनों ही गुण प्रेमचन्द के कथोपकथनों में मिलते हैं, हाँ कहीं-कहीं सौजन्य की मात्रा जरा कम है। लेकिन ऐसा वहीं हुआ है जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को आड़े हाथों लेना चाहता है। उदाहरण के लिये एक जगह गोबर

दातादीन से कहता है—"तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाश्रो कुछ न कुछ मार ही लाश्रोगे। जनम में लो, मरन में लो, सादी में लो, गमी में लो, खेती करते हो, लेन-देन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल-चूक हो जाय तो डाँड़ लगाकर उसका घर लूट लेते हो, इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? क्या करोगे बहुत-सा धन बटोर-कर, कि साथ ले जाने की कोई जुगत निकाल ली है?" ऐसे श्राक्रोश श्रौर व्यंग्यपूर्ण कथोपकथन भी श्रपने सन्दर्भ में बहुत सही श्रौर सटीक हैं।

संवादों की दृष्टि से 'गोदान' का एक श्रौर उदाहरण लें—खन्ना श्रौर मालती का कथोपकथन मनोरंजक है।

"मालती जल गई—श्रापकी हिम्मत न पड़ी बाहर निकलने की।

—मैं गँवारों के खेल नहीं खेलता, मेरे लिये टेनिस है।

—टेनिस में भी मैं तुम्हें सैकड़ों गेम दे चुकी हूँ।

—श्रापसे जीतने का दावा ही कब है ?

—श्रगर दावा हो, तो मैं तैयार हूँ।"

मालती उन्हें फटकार बताकर फिर श्रपनी जगह पर श्रा बैठी।

उपर्युक्त संवाद में हाजिरजवाबी तो है ही, शब्दों का जो दाँव-पेंच है वह भी ध्यान देने योग्य है। वाक्यों की संक्षिप्तता के कारण प्रेमचन्द के कथोपकथन श्रौर चुटीले हो जाते हैं। इस दृष्टि से उनके श्रधिकांश पात्र सधे तीर छोड़ने के श्रभ्यासी हैं।

श्रभिजातवर्गीय सौजन्य की दृष्टि से यह संवाद ध्यान देने योग्य है—"राय साहब ने दुर्बल मुस्कान के साथ कहा—मुझमें तो विचार करने की शक्ति ही नहीं। सज्जनों के पीछे चलना ही मैं श्रपना धर्म समझता हूँ।

—तो लिखिये कोई श्रच्छी रकम।

—जो कहिये वह लिख दूँ।

—जो श्रापकी इच्छा।

—श्राप जो कहिये वह लिख दूँ।

—तो दो हजार से कम क्या लिखियेगा ?

राय साहब ने आहत स्वर में कहा—'आपकी निगाह में मेरी यही हैसियत है ?' उन्होंने कलम उठाया और अपना नाम लिखकर उसके सामने पाँच हजार लिख दिये ।" यह सौजन्य मात्र उच्चवर्गीय पात्रों के कथोपकथन में ही हो, ऐसी बात नहीं है, ग्रामीण पात्रों के कथोपकथनों में भी सौजन्य और स्नेह प्रभूत मात्रा में पाया जाता है ।

कथा-कहानी के लिये वातावरण का महत्त्व कम नहीं है । पात्रों और घटनाओं की स्थिति और प्रभाव को बनाने और बिगाड़ने के लिये वातावरण का सहारा लिया जाता है । जिस तरह उचित पृष्ठभूमि के अभाव में चित्र नहीं निखरते, उसी तरह उचित वातावरण के अभाव में पात्रों और घटनाओं का विकास स्वाभाविक नहीं लगता और पाठकों के मन पर उनका समुचित प्रभाव नहीं पड़ता । इसलिये वातावरण के चित्रण में लेखक को काफी श्रम करना होता है ।·ऐसे लेखक चित्र के अनुरूप ही पृष्ठभूमि को सजाते और सँवारते हैं। इस दृष्टि से यदि हम प्रसादजी के वातावरण-चित्रण पर विचार करेंगे तो उनकी सतर्कता समझ में आयेगी । वे वातावरण को उचित ढंग से प्रस्तुत करने के लिये काफी श्रम करते हैं । ललित और काव्यात्मक भाषा के साथ-साथ विवरणों में रुचि उनकी विशेषता है । लेकिन प्रेमचन्द इन उपकरणों के कायल नहीं हैं । वे तो कुछ ही शब्दों में, दो-चार गिनी-चुनी पंक्तियों में ही, वातावरण को मूर्त्त कर देते हैं । उदाहरण के लिये 'गोदान' में वर्णित एक ग्रामीण पृष्ठभूमि लीजिये—"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर सुगन्ध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी ।" ऐसे वातावरण-चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द इनके संयोजन या नियोजन में आसक्त नहीं होते, लेकिन क्या मजाल कि ये उनकी लापरवाही के सूचक हों । कम से कम रेखाओं और कम से कम रंगों के सहारे भी प्रेमचन्द जो चित्र खींचते हैं वे अपने में पूर्ण जीवन्त होते हैं, क्योंकि वे चित्र प्रेमचन्द की आन्तरिक प्रेरणा से परिचालित होकर अपना रूप ग्रहण करते हैं ।

वातावरण की भाँति प्रेमचन्द पात्रों का वर्णन भी बहुत थोड़े में करते हैं, पर

उसी में पात्र के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व को पूर्णता दे देते हैं। अन्य लेखकों की भाँति प्रेमचन्द पात्रों के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व को प्रकाशित करने के लिये अलग-अलग विवरणों में नहीं जाते। लगे हाथों कई काम कर डालना उनकी विशेषता है। उदाहरण के लिए 'गोदान' के एक-दो पात्रों का वर्णन लीजिये।—"बड़ी लड़की सोना लज्जाशील कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़कर कमर में बाँधे हुए थी, उसके हल्के शरीर पर कुछ लदी हुई सी थी और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच-छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोंसला सा बना हुआ, एक लंगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही डीठ और रोनी।" ऐसा ही विश्वस्त और परिपूर्ण चित्र है झुनिया का। "झुनिया चौखट पर खड़ी थी। उसकी आँखें लाल थीं और नाक के सिरे पर भी सुर्खी थी। मालूम होता था अभी रोकर उठी है। उसके मांसल स्वस्थ सुगठित अंगों में मानो यौवन लहरें मार रहा था। मुंह बड़ा और गोल था, कपोल फूलते हुए, आँखें छोटी और भीतर धंसी हुई, माथा पतला, पर वक्ष का उभार और गात का वही गुदगुदापन आँखों को खींचता था। उस पर छपी हुई गुलाबी साड़ी उसे और भी शोभा प्रदान कर रही थी।"

एक और उदाहरण लीजिये—"झिंगुरीसिंह बैठे दतून कर रहे थे। नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूंछों वाले आदमी, बिल्कुल विदूषक जैसे।" ऐसा ही विश्वस्त चित्र है नोखेराम का—"नोखेराम नाटे, मोटे, खल्वाट, लम्बी नाक और छोटी-छोटी आँखों वाले साँवले आदमी थे। बड़ा-सा पग्गड़ बांधते, नीचा कुरता पहनते और जाड़ों में लिहाफ ओढ़कर बाहर आते-जाते थे। उन्हें तेल की मालिश कराने में आनन्द आता था, इसलिए उनके कपड़े हमेशा मैले, चीकट रहते थे।" ऐसा ही संक्षिप्त, पर परिपूर्ण चित्र है चुहिया का। उसके बारे में लिखते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—"वह दोहरी देह की, काली-कलूटी, नाटी कुरूपा, बड़े बड़े स्तनोंवाली स्त्री थी। उसका पति एक्का हाँकता था और वह खुद लकड़ी की दूकान करती थी।"

ऐसे चित्रों को देखकर प्रेमचन्द के संबंध में यह धारणा बनती है कि उनकी

अन्तर्दृष्टि का लैंस बड़ा ही शक्तिशाली था। पहले वे पात्रों को अपने मानस में पूर्णतया कन्सीव कर लेते थे और तब कागज पर उतार देते थे। अदना-से-अदना पात्र भी क्यों न हो वह उनके मस्तिष्क में उतना ही जीता-जागता चित्र था जितना कि प्रमुख-से-प्रमुख पात्र। सबके लिये समान ममता, स्नेह और सद्भाव उनका नियम था। यही कारण है कि प्रेमचन्द का छोटा-से-छोटा पात्र भी हमारे मन के आइने में एक प्रतिबिम्ब छोड़ जाता है जब कि अन्य लेखकों के प्रमुख-से-प्रमुख पात्र भी अपना कोई स्थान नहीं बना पाते। गौण पात्रों का ऐसा सफल चरित्रांकन सफल लेखकों की लेखनी से ही सम्भव होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में राह-बाट चलते हुए कितने ही गौण पात्र मिल जाते हैं, पर मजाल क्या कि आप उन्हें भूल जायं। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पात्रों में एक ही जीवन धड़कता है। जीवन की उस धड़कन को समान भाव से दोनों प्रकार के पात्रों में दिखला देना प्रेमचन्द की विशेषता है।

न केवल रूप और दृश्य वरन् भाव और क्रियाओं को मूर्त्त करने की अद्भुत क्षमता प्रेमचन्द में है। जिस प्रकार ग्राफ की लकीरें बड़ी आसानी से तापमान के क्रमिक उतार-चढ़ाव की सूचना देती हैं उसी प्रकार प्रेमचन्द की कला भी भावों और क्रियाओं के आरोह-अवरोह को व्यक्त करने में समर्थ है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियाँ लीजिये—"होरी चुपचाप सुनता रहा। मिनका तक नहीं। झुंझलाहट हुई। क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पिसे, लेकिन बोला नहीं। चुपके से कुदाल उठाई और ऊख गोड़ने लगा।" इन पंक्तियों में भाव संचालित मन.स्थिति का जो चित्र है वह अपनी संक्षिप्ता में अत्यधिक मार्मिक है।

भाषा और शैली के जो थोड़े से दृष्टान्त यहाँ उपस्थित किये गये हैं, उससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द अद्वितीय प्रतिभा के कलाकार थे। न केवल विषय-वस्तु की विशालता और विराट्ता अपितु भाषा और शैली की पूर्णता और विदग्धता के कारण ही वह जनता के गले के हार हो सके। उनमें शैली की पच्चीकारी और संगतराशी न होकर वह स्फूर्त प्रवाह है जो लेखक के कथ्य को सजीव और लोक-ग्राह्य बनाता है। जो सौन्दर्य को शो केस की चीज समझते हैं उनकी तो बात ही

जुदा है, लेकिन जिनकी दृष्टि में सौन्दर्य स्वास्थ्य और जीवन का एक लक्षण है उनके लिये प्रेमचन्द की शैली ही आदर्श शैली है, क्योंकि उसमें जीवन की उष्णता और धड़कन है। यदि शैली का कृत्रिमतापूर्ण सौन्दर्य देखना हो, तो उसके लिये दूसरे लेखकों की तलाश करनी होगी।

नायक और नायिका सम्बन्धी परिकल्पना

कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है।

—प्रेमचन्द

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० ७

प्रेमचन्द के छोटे-बड़े और पूर्ण और अपूर्ण उपन्यासों की संख्या ग्यारह है। इनमें निश्चय ही हम उनके कुछ नितान्त प्रारम्भिक उपन्यासों को (जैसे असरारे मआबिद और रूठी रानी आदि को) नहीं गिन रहे हैं जो हाल में उनके पुत्र अमृतराय जी की खोज के फलस्वरूप सामने आये हैं।[1] ग्यारह में हम उनके चिर परिचित उपन्यासों वरदान से लेकर मंगलसूत्र तक की गिनती कर रहे हैं। इन ग्यारह उपन्यासों में सात ऐसे हैं जिनमें मध्यवर्ग की समस्याएँ और कथाएँ हैं—जैसे वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला, गबन, कर्मभूमि और मंगलसूत्र। बाकी चार उपन्यासों—प्रेमाश्रम, कायाकल्प, रंगभूमि और गोदान में भी मध्यवर्ग का, चाहे वह ग्रामीण मध्यवर्ग हो या शहरी, विशिष्ट अनुपात है। 'कायाकल्प' में तो यह अनुपात और भी बढ़ा-चढ़ा है। यदि उपन्यास की नायिका मनोरमा को मान लें, रानी देवप्रिया को नहीं, जिसके कि आधार हैं, तो यह बढ़ा-चढ़ा अनुपात सिद्ध हो जायगा। इसके पुरुष पात्रों में चक्रधर

(१) देखिये, मंगलाचरण : प्रस्तुतकर्त्ता अमृतराय।

का चरित्र ही अधिक प्रमुख है। बाकी 'रंगभूमि' और 'गोदान' में भी मध्यवर्गीय वस्तु-तत्त्व पचास प्रतिशत हैं। 'गोदान' में यदि एक ओर होरी और धनिया हैं तो दूसरी ओर मेहता और मालती। एक ओर यदि गोबर और झुनिया हैं तो दूसरी ओर खन्ना और गोविन्दी। अनुपात में थोड़ा घट-बढ़ हो सकता है लेकिन संतुलन नष्ट नहीं होगा। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर तो हैं ही, उनके साथ दसियों मध्यवर्गीय चरित्र हैं जो कथानक को गति और रूप देते हैं। 'रंगभूमि' का नायक सूरदास है लेकिन यदि हम मध्यवर्गीय जौनसेवक को छोड़ दें तो सूरदास का चरित्र खड़ा ही नहीं होगा। यह मध्यवर्गीय ईसाई चरित्र सूरदास के चरित्र के लिये बड़ा आधार है। इस दृष्टि से जौनसेवक गौण चरित्र नहीं, अपितु महत्त्वपूर्ण चरित्र सिद्ध होता है। ठीक यही बात विनय के चरित्र के सम्बन्ध में है। सोफिया के चरित्र के बिना उसका चरित्र अधूरा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने मध्यवर्ग को कभी नहीं भुलाया और न उसके महत्त्व को कम करके आँका। अपने अधिकांश उपन्यासों में मध्यवर्ग के सदस्यों को पूर्ण नायकत्व का पद प्रदान किया और बाकी उपन्यासों में आंशिक नायकत्व का पद देकर सन्तोष किया।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द के पूर्व श्रेष्ठ नायकों की कोई शानदार परम्परा नहीं है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द को अपना पथ स्वयं गढ़ना था। अब इस उत्तरदायित्व से जूझते समय उनके मन में यह बात अवश्य रही होगी कि वे ऐसे नायकों को लेकर चलें जो जातीय-जीवन में अपना स्थान बना सकें, प्रतिष्ठा प्राप्त करें। उपन्यासों में मानव चरित्र का ऐसा निरूपण होना चाहिये, इससे उनका सैद्धान्तिक विरोध नहीं था। उन्होंने एक नये लेखक हरिहरनाथ को लिखा था—"मैं चाहता हूँ कि आप मनुष्यों की सृष्टि करें, साहसी, ईमानदार, स्वतन्त्र चेता मनुष्य, जान पर खेलने वाले, जोखिम उठाने वाले मनुष्य, ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। आज इसी की जरूरत है।"[1] इसलिये जब प्रेमचन्द ने प्रारम्भिक नायकों की परिकल्पना की तो 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय जैसा नायक

(१) चिट्ठी पत्री, भाग २, पृ० २८६।

खड़ा किया। लेकिन प्रेमचन्द की नायक सम्बन्धी यह परिकल्पना आगे चलकर परिवर्तित होने लगती है। शायद कुछ लोगों को आश्चर्य होगा कि जिस लेखक ने शुरू में नायक की परिकल्पना अमृतराय जैसे युवक के रूप में की बाद में वह सदनसिंह, रमानाथ और अमरकान्त जैसे नायकों की परिकल्पना क्यों करने लगा! वास्तव में अमृतराय की तुलना में ये नायक जरा भी नहीं ठहरते। तो क्या प्रेमचन्द का कला-विवेक समय के साथ-साथ और विकृत हुआ? इस प्रश्न पर विचार करने से प्रेमचन्द की नायक सम्बन्धी परिकल्पना का क्रमिक विकास स्पष्ट होगा।

हिन्दी में लेखन प्रारम्भ करने के बाद ही प्रेमचन्द को अनुभव हुआ होगा कि गौरवपूर्ण अतीत वाले अविकसित साहित्य के आसंग में वे आये हैं। हिन्दी में कथा-साहित्य भले ही समृद्ध नहीं था, लेकिन मध्यकालीन काव्यों के नायकों के जो रूप थे वे अपने आपमें विशिष्ट थे, इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द को भी महत् आदर्शों वाले नायकों का चित्रण करना चाहिये, यह बात उनके मन में आई होगी। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं प्रेमचन्द का वस्तुवादी दृष्टिकोण इतना प्रखर और बढ़ा-चढ़ा था कि वह उनके इस दृष्टिकोण पर कि नायक को महत् आदर्श लेकर चलना चाहिये, हावी हो गया। अमृतराय को नायक रूप देकर असम्भव नहीं कि प्रेमचन्द ने उसके नायकत्व पर पुनर्विचार किया हो और पाया हो कि इस रूप में वह उनके मन के अनुकूल भले ही हुआ हो, लेकिन अपने वर्ग-स्वभाव को पूरा-पूरा व्यक्त नहीं कर सका। इस दृष्टि से उनके आलोचकों द्वारा कही गई यह बात कि 'उनके पात्र व्यक्ति उतने नहीं होते जितने कि टाइप' का स्मरण हो आता है। वास्तव में अमृतराय व्यक्ति अधिक है; टाइप कम। लेकिन बाद के नायक टाइप अधिक हैं, व्यक्ति कम। यह होना ही था क्योंकि प्रेमचन्द व्यक्ति के सामाजिक रूप को लेकर चले थे। व्यक्ति-पक्ष को गौण कर प्रकार-पक्ष को प्रबल सिद्ध करने का कारण सम्भवत: यही था कि प्रेमचन्द यह मानते हुए भी कि व्यक्ति का चरित्र-निर्माण ही उपन्यासों का उद्देश्य हो, मूलत: इसी दृष्टिकोण को लेकर नहीं चल सकते थे। उनके मन में जो एक सजग सामाजिक कलाकार था वह उनके विशुद्ध कलाकार से परास्त होने को

प्रस्तुत नहीं था। इसीलिये अन्त में उसकी विजय हुई।

मध्यवर्ग में अमृतराय जैसे नायक नहीं होते, यह बात नहीं। लेकिन अमृतराय को चित्रित करते समय भी प्रेमचन्द के मन में यह बात थी कि एक वर्ग चरित्र के रूप में अमृतराय के चरित्र को अधिक स्वीकृति नहीं मिलेगी। प्रतिज्ञा में वे अपने वर्ग के बीच एक अजनबी-से लगते हैं। उनका घनिष्ठ मित्र प्रोफेसर दाननाथ तक उन्हें नहीं समझ पाता। वह अपने वर्ग के एक विशेष चरित्र मालूम होते हैं, सामान्य चरित्र नहीं। इसलिये यथार्थ के तकाजे के कारण सम्भव है प्रेमचन्द ने अपना आगे का दृष्टिकोण बदल दिया हो। इसीलिये बाद में जब उन्होंने सदनसिंह, रमानाथ और अमरकान्त जैसे नायकों की कल्पना की तो हमें उनकी यह कल्पना, एकाधिक कारणों से, अत्यन्त स्वाभाविक मालूम हुई। लगता है कि रमानाथ, सदनसिंह और अमरकान्त ठीक ही मध्यवर्गीय चरित्र हैं, वैसे ही ढुलमुल, लचर और अस्थिर प्रकृति के जैसे मध्यवर्ग के लोग होते हैं। ऐसे चरित्रों को स्थान देने पर प्रेमचन्द विवश हो गये तो कुछ इसी कारण से कि उस समय सम्पूर्ण भारतीय कथा-साहित्य में ऐसे ही चरित्रों की अवतारणा हो रही थी। इस दृष्टि से बंगला के शरतचन्द्र के उपन्यासों के नायकों के स्वरूप पर ध्यान देना सुविधाजनक होगा। शरतचन्द्र के नायक भी अधिकतर मध्यवर्गीय ही हैं और वे भी उच्छृंखल, अस्थिर-चित्त, चरित्रहीन और इच्छाशक्ति रहित हैं।[1] इस दृष्टि से वे 'गबन' के रमानाथ और 'सेवासदन' के सदनसिंह आदि के निकट हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में जो नयी समाज-व्यवस्था संसार के सम्मुख आई वह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के आगमन के कारण पुरानी समाज-व्यवस्था की वे विशेषताएँ नष्ट हो गईं जिनके चलते गौरवपूर्ण अविस्मरणीय चरित्रों की अवतारणा होती थी। सामन्ती समाज-व्यवस्था में और जो भी दोष हों, लेकिन उसमें चरित्र उतने परवश नहीं होते थे जितने कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में। उसमें चरित्र गलत ढंग से ही उभरते थे, लेकिन उभरते थे। लेकिन

(१) शरतचन्द्र: व्यक्ति और कलाकार : इलाचन्द्र जोशी।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में तो चरित्रों को उभरने का मौका ही नहीं मिलता। वे एक कठिन आर्थिक-चक्र से उलझते-सुलझते या तो मिट-पिस जाते हैं या यदि बच भी पाते हैं तो अपनी मानवीयता और गाम्भीर्य-गौरव खोकर। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में अच्छे भले निम्नवर्गीय चरित्रों की परिणति होती है 'कफन' के घीसू और माधो में; मध्यवर्गीय चरित्रों की परिणति होती है 'गबन' के रमानाथ और 'मंगलसूत्र' के संतकुमार में। इसलिये पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के दौरान में जो साहित्य लिखे गये उसमें अविस्मरणीय उदात्त चरित्र कम मिलते हैं। शायद इसी बात को लक्ष्य कर राल्फ फाक्स ने अपनी पुस्तक 'उपन्यास और लोकजीवन' (द नावेल एण्ड द पिपुल) में लिखा है "हमारे आधुनिक उपन्यासों से नायक और खलनायक दोनों ही खतम हो गये हैं। व्यक्तित्व अब कहीं नहीं दिखाई देता, खुर्दबीन की स्लाइड पर चिपकी हुई रंग-बिरंगी कतरनों के रूप में ही अब उसका अस्तित्व है। ये कतरने बहुधा अत्यन्त विचित्र, दिलचस्प या सुन्दर होती हैं किन्तु ये जीवित स्त्री पुरुष नहीं होते।"[१] इस रूप में आज उपन्यासों में जो चरित्र नायकों और खलनायकों के स्थानापन्न बचे हैं वे औसत चरित्र ही हैं। इसलिये यह कहना सही है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के उपन्यासों में गौरवपूर्ण चरित्रों की अवतारणा की सम्भावना प्रायः कम हो गई।

यह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का घातक प्रभाव ही है कि अब औपन्यासिक चरित्र व्यक्ति-रूप में न रहकर प्रकार-रूप में शेष रह जाते हैं। इस प्रकार एक विशेष समाज-व्यवस्था किस प्रकार विशेष ढंग के चरित्रों के लिये घातक हो सकती है, यह पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और उसमें पनपने वाले औपन्यासिक चरित्रों को देखने से स्पष्ट होता है। अब यह बात दूसरी है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था भी विशेष प्रकार के नायकों और खलनायकों की अवतारणा के लिये पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर सकती है। लेकिन ऐसे नायक और खलनायक अभी उस रूप में उभर कर हमारे सामने नहीं आये हैं जिनकी तुलना पुराने नायकों और खलनायकों से की जा सके। सम्प्रति तो स्थिति यह है कि पुराने नायकों और

---

(१) देखिये, उपन्यास और लोकजीवन : अनुवादक नरोतम नागर।

खलनायकों को बनाने वाली परिस्थितियाँ मिट गई हैं और उनकी तुलना में खड़े होने वाले चरित्र ढूंढे से मुश्किल से मिलते हैं। इस दृष्टि से आज के किसी भी उपन्यासकार पर यह आक्षेप कि उसके उपन्यासों में व्यक्ति चरित्र खूब ठीक ठिकाने से नहीं उभरते, प्रकार विशेष होकर रह जाते हैं, कोई मानी नहीं रखता है। वास्तव में प्रेमचन्द की चरित्र सम्बन्धी परिकल्पना पर पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का या महाजनी सभ्यता का घातक प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन यह कहकर कलाकार की अद्वितीय क्षमता पर अवश्य ही कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा रहा है। कुछ कलाकार ऐसे हो सकते हैं कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अनिष्टकर प्रभाव के चपेट में न आयें और ऐसे गौरवपूर्ण और अविस्मरणीय चरित्रों की अवतारणा करें जो जातीय जीवन में प्रतिष्ठा अर्जित कर लें लेकिन यह तो विशेष कलाकार की विशेष क्षमता की बात है जो सदा ही अपवाद स्वरूप है। इससे हमारे सामान्य कथन के औचित्य में कोई अन्तर नहीं आता।

पूंजीवादी सभ्यता के उदय के साथ ही मध्यवर्ग का उदय हुआ और आगे चलकर इसने सामाजिक जीवन में स्पष्ट रूप और आकार ग्रहण किया। अब अन्य वर्गों की तुलना में यही प्रमुख वर्ग हुआ और साहित्य में भी इसे प्रमुखता मिली। लेकिन यह होते हुए भी इस वर्ग का जीवन एक ओर विषम आर्थिक चक्र से घिरा रहा और दूसरी ओर नवीन शिक्षा-दीक्षा के कारण इसके पुराने जातीय संस्कार नष्ट होते रहे। इस प्रकार न केवल भौतिक दृष्टि से वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह वर्ग खोखला हो गया। इसलिये इस वर्ग में गौरव-पूर्ण उदात्त चरित्रों की कल्पना निरर्थक जँचने लगी। इस वर्ग के विचारक, लेखक और कलाकार यह सहज ही मानने को बाध्य हुए कि इसमें रमानाथ, सदनसिंह और अमरकान्त जैसे लोग हो सकते हैं लेकिन अमृतराय जैसे लोग बिरले ही होंगे—भरी सभा में हाथ उठाने वाले एकाध ही। तो इन बिरलों की बात क्यों की जाय? जो समाज की वृहत्तर सच्चाई है उसे ही वाणी क्यों नहीं दी जाय? सम्भव है इन स्थितियों और चिन्तनाओं का प्रेमचन्द की नायक सम्बन्धी परि-कल्पना पर पूरा प्रभाव पड़ा हो। यदि ऐसा न होता तो कोई कारण नहीं था कि अमृतराय जैसे नायक, जिन्होंने शुरू में ही वनिता आश्रम की स्थापना को,

गुंडों से भरी सभा में भी अपना धैर्य नहीं खोया, आगे चलकर पंगु हो जाते और केवल बातें बनाने वाले, मोटे-मोटे दर्शन के ग्रन्थ लिखने वाले मेहता के रूप में परिणति पाते। रमानाथ, सदनसिंह और अमरकान्त की अस्थिर चित्तता और दुर्बलता को यदि उनके अल्प-वय का परिणाम मान लिया जाय तो मेहता और देवकुमार जैसे चरित्रों के बारे में क्या कहा जायगा? ये तो प्रौढ़ चरित्र हैं, अपरिपक्व युवक नहीं। लेकिन इनमें भी अस्थिर चित्तता कम नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द की नायक सम्बन्धी परिकल्पना के पीछे उनका यथार्थ बोध ही है। इसलिये वे विशिष्ट चरित्रों से शुरूकर सामान्य चरित्रों पर आकर रुकते हैं।

केवल मध्यवर्गीय चरित्रों के सम्बन्ध में ही यह बात सही नहीं है कि इस वर्ग के चरित्रों पर पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का सबसे घातक परिणाम पड़ता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में निम्नवर्गीय चरित्रों का विकास भी कुछ इसी ढंग से हुआ है। जिस लेखक ने सूरदास जैसा अचल और अडिग चरित्र गढ़ा, जो लाख आँधी-पानी में नहीं घबराता है और हँसता-हँसता सबसें जूझता रहता है उसी ने होरी जैसे अस्थिर चित्त दुर्बल किसान की रचना की। लेकिन इसका कारण भी यही है कि सूरदास चाहे जितना भी सुन्दर और सबल चरित्र हुआ हो वह एक औसत भारतीय भिखारी नहीं मालूम होता। लेकिन होरी चाहे जैसा भी दुर्बल क्यों न मालूम होता हो, लगता है वह एक औसत भारतीय किसान की तरह।

अब इस समस्या के दूसरे पहलू को लेकर कुछ विचारणा आवश्यक है अर्थात् प्रेमचन्द की नायिका सम्बन्धी परिकल्पना का स्वरूप क्या है। इस दृष्टि से नायक और नायिका सम्बन्धी परिकल्पना में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है। जहाँ नायकों की गति विशेष से सामान्य की ओर रही है वहाँ नायिकाओं की गति सामान्य से विशेष की ओर है। यह बात तब स्पष्ट हो जायगी जब हम नायकों में अमृत राय को मेहता में परिणत हुआ देखते हैं और पूर्णा, सुमित्रा और प्रेमा को जालपा, सुखदा और मालती के रूप में। वास्तव में जिस अनुपात में नायकों का स्वभाव और स्वरूप बिगड़ा है उसी अनुपात में नायिकाओं का स्वभाव और स्वरूप सँवरा

और बना है। यह भी यथार्थ के तकाजे के कारण ही सम्भव हुआ। यदि प्रेमचन्द 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय की तरह प्रेमा और पूर्णा को भी विकसित चरित्र के रूप में चित्रित करते तो वह लोकग्राह्य और स्वाभाविक नहीं होता। जिस समाज में अमृतराय के चरित्र को समझने वाला कोई नहीं है वहाँ विकसित चरित्र वाली प्रेमा और पूर्णा के चरित्र को कौन समझता? जहाँ पुरुषों के चरित्र में नयेपन को स्वीकृति नहीं मिलती वहाँ नारियों के चरित्र में नवीनता, मौलिकता और अपरम्पारिकता को कौन स्वीकृत करता? फिर यह प्रश्न उठना भी तो स्वाभाविक है कि तत्कालीन समाज में नारी का स्वरूप वैसा था या नहीं? क्या उस समय मध्यवर्ग की नारियाँ उतनी आगे बढ़ी हुई थीं? इसलिये लेखन और चरित्र सृजन के प्रारम्भिक उत्साह से प्रेरित होकर भी प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय के चरित्र से ही सन्तोष कर लिया, पूर्णा और प्रेमा आदि को चाहकर भी रूढ़ ढंग से ही चित्रित किया। वैसे एकाध मौके पर उन्होंने उनकी सम्भावनाएँ स्पष्ट कर दीं जैसे प्रेमा भरी सभा में आकर, जहाँ उपद्रवियों की प्रधानता है, व्याख्यान दे आती है और पूर्णा कमलाप्रसाद के कुचक्र से घिरकर आत्म-समर्पण नहीं करती वरन् नारी सुलभ प्रतिकार का सहारा लेकर किसी प्रकार बच निकलती है। लेकिन उनमें इससे बढ़कर अधिक चिन्तनशीलता और क्रियाशीलता का समावेश अयथार्थ और अस्वाभाविक होता, ऐसा प्रेमचन्द जानते थे। लेकिन ये ही सामान्य नारियाँ आगे चलकर सुमन और जालपा बनती हैं जो समाज के तथाकथित सफेदपोशों की खुलकर हँसी उड़ाती हैं और पथभ्रष्ट स्वामी को खोज निकालने के लिये घर की देहरी लाँघकर जनाकीर्ण शहर में अकेली चल पड़ती हैं। इस प्रकार इनके चरित्र का क्रमिक विकास होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द ने समाज की स्त्रियों और पुरुषों में गुणात्मक उलट-फेर होते दिखाया है। पुरुष पीछे हटते हैं और नारियाँ आगे बढ़नी हैं, नारियाँ आगे बढ़ती हैं और पुरुष पीछे हटते हैं।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में चरित्रों का ह्रास होता है लेकिन यह ह्रास अधिकतर पुरुष पक्ष में देखा जाता है। वहीं यह प्रभावशाली ढंग से अपना कार्य करता है। यदि ऐसा न होता तो पुरुष-स्वभाव दिनानुदिन विकृत क्यों होता?

तो क्या पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का यह घातक प्रभाव नारी चरित्रों पर नहीं पड़ता है ? पड़ता है, पर यह भिन्न परिणाम उत्पन्न करता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार यह समाज-व्यवस्था निम्नवर्ग को सबसे अधिक कचोटती है लेकिन उसी वर्ग के सदस्य मिटने के बदले एक नयी शक्ति लेकर अवतरित होते हैं। जो आग अन्य सब वस्तुएँ जलाने वाली है वही सोने को निखारती है। नारियाँ तो पुरुषों द्वारा सदा ही सताई गई हैं। इसलिये जब पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में शोषक और शोषितों का वर्ग बना तो अनजान रूप से नारियाँ भी शोषित वर्ग में दाखिल मान ली गईं—कुछ तो अपनी स्नायविक परवशता के कारण और कुछ आर्थिक साधनों पर पुरुष के स्वामित्व के कारण। इसलिये शोषण ने उनके चरित्र को निखार और दीप्ति भी दी। वैसे भी उनका क्षेत्र घर और परिवार था और बाह्य जगत के आर्थिक चक्र से दूर रहने के कारण उनमें कुछ पुराने मूल्य शेष थे। अब आघात पड़ने पर उन्हीं पुराने मूल्यों की पूँजी में उन्होंने इजाफा किया और अपने व्यक्तित्व को माँजा और चमकाया। लेकिन पुरुष पात्रों को यह सुविधा नहीं थी। बाह्य क्षेत्र में निरन्तर आर्थिक संघर्ष में घिसते-पिसते रहने के कारण वे पुराने मूल्यों को गँवा चुके थे या उनकी महत्ता भूल चुके थे। दूसरी ओर व्यक्तित्व को निखारने के लिए जो संवेदनशील मन और निरन्तर कशाघात चाहिये वे उन्हें नारियों की तुलना में कम मिल रहे थे। अतः उनका चारित्रिक उत्थान सम्भव नहीं था। इसलिये प्रारम्भ की तितली मालती जहाँ पीछे चलकर मधुमक्खी बन जाती है, और जीवन का अक्षय मधु-मूल्य एकत्र करती है वहाँ मेहता ज्यों के त्यों रह जाते हैं; सुखदा का जहाँ स्पष्ट चारित्रिक उत्थान होता है वहाँ अमरकान्त जीवन-पथ पर कुछ दूर आगे बढ़कर उलझ-सुलझ कर रह जाते हैं; पुष्पा जहाँ अपने व्यक्तित्व की सौम्यता, माधुर्य और कोमलता कायम रख सकती है वहाँ सन्तकुमार धूर्त, कुटिल और मक्कार हो जाते हैं।

नारी चरित्रों का यह स्वरूप तत्कालीन यथार्थ का परिणाम है। न केवल प्रेमचन्द के उपन्यासों में वरन् बंगला लेखक शरतचन्द्र के उपन्यासों में भी नारियाँ इसी रूप में चित्रित हुई हैं। इलाचन्द्र जोशी ने शरत् के पात्रों के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा है कि—"उनके पात्र जितने ही उच्छृंखल, चरित्रहीन,

इच्छाशक्ति रहित और सस्ते ढंग की भावुकता से ग्रस्त थे उनकी पात्रियाँ उतनी ही संयत, दृढ़, चरित्र-शक्ति-सम्पन्न और गम्भीर भाव प्रवणता से प्रेरित थीं।"[1] इस दृष्टि से प्रेमचन्द के पात्रों और पात्रियों का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द की नायक-नायिका सम्बन्धी परिकल्पना के पीछे उनकी प्रखर वस्तुवादी दृष्टि थी, यह कहना अनुचित नहीं होगा। वास्तव में प्रेमचन्द ऐसे लेखक थे जिन्होंने सभी साहित्यिक आदर्श वस्तुवादी दृष्टिकोण के आलोक में गढ़े और बेहिचक अपने साहित्य सृजन के पथ पर आगे बढ़े। यही उनकी सफलता है।

---

(१) शरतचन्द्र : व्यक्ति और कलाकार : पृ० ५।

औपन्यासिक शिल्पविधि का विकास

शिकंजे साधारण श्रेणी के कलाविदों के लिये हैं। स्त्रष्टा के लिये प्राचीन समय में भी कोई शिकंजा न था। शिकंजे बनते हैं स्त्रष्टाओं की ही कृतियों से।

—प्रेमचन्द

—विविध प्रसंग ३, पृ० ३४३

वस्तु और शिल्प का संगठित रूप ही साहित्यिक कृतित्व है। इसलिये कृतित्व के विश्लेषण क्रम में जहाँ वस्तु-संगठन और वस्तु-विकास पर विचार करना आवश्यक होता है वहाँ शिल्प-सौष्ठव और शिल्प-विकास का निदर्शन भी आवश्यक है। यह काम बहुधा दो प्रकार से किया जाता है। वस्तु और शिल्प का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये एक के विवेचन क्रम में ही दूसरे का विवेचन होता चलता है। लेकिन विवेचन-सौकर्य के लिये कभी-कभी यह अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है कि वस्तु-विन्यास पर विचार करने के बाद शिल्प-विन्यास पर अलग से विचार किया जाये। लेकिन ऐसा करते समय भी वस्तु और शिल्प दोनों का विवेचन आवश्यक हो जाता है क्योंकि ऐसा किये बिना काम नहीं चलता।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में वस्तु-विन्यास किस प्रकार का है, उनके विकास का क्या क्रम है, यह हम संक्षेप में बता चुके हैं। भाषा शैली पर विचार करते हुए हम उनके शिल्प की कुछ विशेषताओं पर भी दृक्पात कर चुके हैं। यहाँ सिर्फ इतना जानना है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में शिल्पविधि का कोई क्रमिक विकास लक्षित होता है या नहीं। यदि विकास का यह क्रम है तो किस प्रकार का है और उसे प्रभावित करने वाले कौन-कौन से उपकरण हैं।

इस क्रम में सबसे पहले यही विचारना है कि शिल्पविधि कहते किसे हैं। हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि के विकास पर विचार करते हुए डा० लक्ष्मी-नारायण लाल ने शिल्पविधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—"शिल्पविधि का बोध अंग्रेजी के टेकनीक शब्द से किया जाता है। टेकनीक का अर्थ है ढंग, विधान, तरीका जिसके माध्यम से किसी लक्ष्य की पूर्ति की गई हो। यह लक्ष्य भौतिक जीवन में किसी वस्तु अथवा मनोवांछित तत्त्व की प्राप्ति से सम्बन्ध रखता है और कला के क्षेत्र में इस लक्ष्य से अभिप्राय है सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति का प्रकार। कला के विभिन्न तत्त्वों अथवा उपकरणों की योजना का वह विधान, वह ढंग जिससे कलाकार की अनुभूति अमूर्त्त से मूर्त्त हो जाये।" अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये डा० लाल ने उदाहरण भी दिया है—"कोई चित्रकार अकाल की पीड़ा की अनुभूति को चित्रात्मक अभिव्यक्ति देना चाहता है। इसके लिये प्रथमतः उसे एक ऐसी संवेदना को आधारशिला बनानी होगी जिसकी पृष्ठभूमि पर वह अपनी अनुभूति व्यक्त करेगा, अतएव इस तत्त्व में कथावस्तु के बीज अंकुरित हुए, फिर उसे भावों को वहन करने के लिये कुछ पात्रों की अवतारणा करनी पड़ेगी, जैसे अकाल पीड़ित मानव, जीव-जन्तु आदि, इनके माध्यम से वह अनुभूति को सजीव अभिव्यक्ति देगा। अतएव यह तत्त्व चरित्र अवतारणा की ओर निर्देश करता है। इसके उपरान्त चित्रकार का यह प्रयत्न होगा कि वह किन-किन रंगों, परिपार्श्वों के सहारे पात्रों को कहाँ-कहाँ रखे, किन-किन स्थितियों की व्यंजना करे जिससे अकाल के भाव घनीभूत हो जायं। फलतः उसका यह प्रयत्न उसकी शैली हुई, जिसके सहारे उसने अपने चित्र को पूर्ण किया। इस सम्यक् चित्र से उसके लक्ष्य की पूर्ति हुई और जिस प्रक्रिया से उसका चित्र प्रस्तुत हुआ वही उस चित्र की शिल्पविधि—टेकनीक हुई। शिल्पविधि के इस मोटे रूपक से यह प्रकट है कि किसी भाव को एक निश्चित रूप देने के लिये जो विधान प्रस्तुत किये जाते हैं वही उस कला की शिल्पविधि है।" इस रूप में शिल्पविधि वह साधन है जिसके द्वारा कलाकार अपने भाव, विचार और कल्पनाएँ व्यक्त करता है। यह साधन जितना ही पूर्ण और प्रभावशाली होगा कलाकार के भाव, विचार और कल्पनाएँ उतनी ही स्पष्टता और प्रभविष्णुता से व्यक्त होंगे।

प्रेमचन्द शुरू से ही वर्गीय सामाजिक जीवन को चित्रित करने का उद्देश्य लेकर चले। यद्यपि शुरू से ही उनके सामने कुछ बड़े और व्यापक लक्ष्य थे तथापि उन्होंने उन लक्ष्यों की ओर तेजी से कदम नहीं बढ़ाये। वे लेखकीय जीवन के पथ पर बहुत धीरे-धीरे और सोच-समझकर आगे बढ़े। शुरू में उन्होंने ऐसे उपन्यास लिखे जिनके 'कैनवास' अपेक्षाकृत छोटे और सीमित हैं। ऐसा करने एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने शुरू से साहित्यिक ईमानदारी बरतने की कोशिश की। जिन बातों का उन्हें अधिक अनुभव था पहले वे ही बातें कहने के लिये ली गईं। जब उनके प्रस्तुतीकरण में सफलता मिलती दीखी तो धीरे-धीरे वे बड़े और व्यापक लक्ष्यों की ओर बढ़े। यह कहना अनुचित होगा कि प्रेमचन्द को समाज के सभी वर्गों का प्रत्यक्ष और प्रगाढ़ ज्ञान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में उच्चवर्ग के जीवन का जो चित्रण किया है वह उतना पूर्ण और विश्वस्त नहीं है जितना कि मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के जीवन का। लेकिन बाद में चलकर वे उच्चवर्ग को छोड़ते नहीं हैं और न उस वर्ग के चित्रण का उत्तरदायित्व लेते हचकिचाते हैं। भारतीय समाज को उसकी परिपूर्णता में चित्रित करने के लिये विभिन्न वर्गों पर रोशनी फेंकनी जरूरी है। लेकिन विभिन्न वर्गों पर रोशनी फेंकने का यह साहस प्रेमचन्द में धीरे-धीरे आया। और जिस प्रकार धीरे-धीरे बड़े और व्यापक लक्ष्यों की ओर बढ़ने का साहस आया उसी प्रकार क्रमशः शिल्प में भी साहसिकता आती गई।

प्रेमचन्द ने अपने प्रथम प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन' की रचना रूढ़ औपन्यासिक नियमों के अनुसार की। यद्यपि इसी उपन्यास से प्रत्यक्ष हो जाता है कि उनका उद्देश्य मनोरंजन के लिये कथा कहना नहीं, वरन् भारतीय समाज के कुछ वर्गों की असंगतियाँ स्पष्ट करना है तथापि इस उपन्यास में उन्होंने कथानक-निर्माण की ओर कम ध्यान नहीं दिया है। उपन्यास के स्थापत्य पर विचार करते हुए विश्वम्भर 'मानव' ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द' में लिखा है—"उपन्यास पढ़कर कोई नहीं कह सकता कि इसके पात्र ऊपर से जोड़े हुए-से या ठूँसे हुए-से लगते हैं।" अपनी बात स्पष्ट करने के लिये वे उपन्यास की नायिका सुमन से अन्य पात्रों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं—"कृष्णचन्द्र और गंगाजली

उसके माता-पिता हैं, जाह्नवी और उमानाथ उसके मामी-मामा, गजाधर उसका पति है, मदनसिंह का पुत्र सदन उसका प्रेमी, शान्ता उसकी बहन है, विट्ठलदास उसके उद्धारकर्त्ता, पद्मसिंह उसके पतन में अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हैं, भोली प्रत्यक्ष रूप से। तात्पर्य यह कि 'सेवासदन' का प्रत्येक पात्र किसी न किसी प्रकार सुमन से सम्बन्धित है।" इस रूप में 'सेवासदन' में एक परिपूर्ण सुसम्बद्धता है। इसी बात को ध्यान में रखकर प्रेमचन्द की कला पर विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने कहा है—"केवल निर्माण की दृष्टि से स्वयं प्रेमचन्द 'सेवासदन' को फिर न पा सके। अपने अन्य बड़े उपन्यासों में उन्होंने निर्माण का ढंग ही बदल दिया था।"[1]

यहाँ यह विचारणीय है कि निर्माण की दृष्टि से 'सेवासदन' में इतनी परिपूर्णता और सुसम्बद्धता क्यों लाई गई ? क्या इसके पीछे प्रेमचन्द का कोई उद्देश्य है ? यदि निर्माण का यही ढंग उनका प्रकृत ढंग है तो फिर बड़े उपन्यासों में निर्माण का ढंग क्यों बदल दिया गया ? क्या इसके पीछे भी कोई उद्देश्य है ? इन प्रश्नों पर विचार करने से प्रेमचन्द की शिल्प-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट होगी।

प्रेमचन्द ने जिस युग में उपन्यास लिखना शुरू किया उस युग के पाठकों की अपनी सीमाएँ थीं। तब के हिन्दी-पाठकों के मन में उपन्यास सम्बन्धी जो धारणा थी वह प्रेमचन्द के पहले के उपन्यासों को पढ़कर बनी थी। ऐसे उपन्यासों का एक प्रमुख तत्त्व कथानक था। प्रेमचन्द को ऐसे ही पाठकों को लेकर चलना था। इसलिये शुरू में उन्होंने कोई ऐसा उपन्यास लिखना उचित नहीं समझा जिसमें कथानक ढीला-ढाला होता। यदि शुरू में ऐसा उपन्यास लिखा जाता तो लोग कथानक के ढीलेपन को ध्यान में रखकर प्रेमचन्द को असफल कथाकार करार देते। इसलिये प्रेमचन्द ने शुरू में 'सेवासदन' जैसे उपन्यास की रचना की जिसमें सुसम्बद्ध कथानक है और चरित्रों का विकास भी सामान्य ढंग से हुआ है। लेकिन इस उपन्यास में भी प्रेमचन्द ने सामाजिक दशा को स्पष्ट करने के लिये थोड़ी बहुत छूट ली है। इसके लिये वे आलोचकों की असंयत आलोचना के

---

(१) प्रेमचन्द : चिन्तन और कला सम्पादक : डा० इन्द्रनाथ मदान।

शिकार हुए हैं जैसे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'सेवासदन' में आये मुसलमान पात्रों और उनकी कथा को उपन्यास का कलेवर बढ़ानेवाला कहा है। जब धुरीण आलोचकों की यह दशा है कि वे कथानक को जरा भी ढीला नहीं देखना चाहते—चाहे उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता हो—तो सामान्य पाठकों का क्या कहना! इसलिये प्रेमचन्द ने यह उचित समझा कि शुरू में प्रचलित औपन्यासिक शिल्प को लेकर आगे बढ़ें।

लेकिन प्रचलित औपन्यासिक शिल्प से प्रेमचन्द का काम नहीं चल सकता था। वे मनोरंजन के लिये कथानक गढ़ने वाले और किस्सा कहने वाले कथाकार न थे—और न मानव चरित्रों का एकान्तिक उत्थान-पतन दिखलाना ही उनका अभीष्ट था। उन्हें तो सम्पूर्ण भारतीय समाज का नक्शा खींचना था और मरणशील और प्रगतिशील सामाजिक शक्तियों की भूमिका स्पष्ट करनी थी। इसलिये केवल निर्माण की दृष्टि से कथानक गढ़ने से उनका काम नहीं हो सकता था। उन्हें निर्माण का ढंग आगे चलकर बदलना ही था। लेकिन व्यावहारिक व्यक्ति होने के नाते प्रेमचन्द जानते थे कि निर्माण का ढंग कहाँ और कब बदला जाये।

प्रेमचन्द यदि शुरू में ही बदली हुई निर्माण-पद्धति लेकर सामने आते तो सम्भव है विद्रोही लेखक या अभिनव कथा-शिल्पी के रूप में समादर पाते। लेकिन उन्हें इस रूप में तब थोड़े से लोग ही समझ सकते थे, अधिकांश पाठक यही आक्षेप करते कि प्रेमचन्द को निर्माण-कौशल पर अधिकार नहीं है। इसलिये प्रेमचन्द ने शुरू में संयम से काम लिया और पाठकों की रुचि के अनुसार चलकर उनका विश्वास अर्जित किया। फिर जैसे ही पाठकों का विश्वास प्राप्त हो गया उन्होंने तुरन्त 'प्रेमाश्रम' जैसे उपन्यास की रचना की जिसकी निर्माण-पद्धति 'सेवासदन' की निर्माण-पद्धति से एकदम भिन्न है।

'सेवासदन' के बाद ही 'प्रेमाश्रम' की रचना से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द बड़े और व्यापक लक्ष्यों की ओर बढ़ने के लिये बेचैन थे। यदि ऐसी बात नहीं होती तो वे जानबूझकर ढीले कथानक वाला उपन्यास (?) लिखने का खतरा क्यों मोल लेते? 'सेवासदन' की रचना करके वे सुसम्बद्ध कथानक

खड़ा करने वाले कथाकार के रूप में विख्यात हो चुके थे। फिर उससे भिन्न ढंग की कृति प्रस्तुत कर अग्नि-परीक्षा के लिये क्यों प्रस्तुत होते ? लेकिन हम जानते हैं कि प्रेमचन्द एक सीमा तक ही संयम से काम लेने के आदी थे, उसके बाद हर तरह के खतरे उठाने के लिये प्रस्तुत हो जाते थे।

'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने कथानक का ढाँचा नहीं बदला अर्थात् वहाँ वे सम्भल-सम्भलकर चले लेकिन 'प्रेमाश्रम' तक आते-आते उन्होंने सम्भल-सम्भल कर चलना आवश्यक नहीं समझा। इसलिये 'प्रेमाश्रम' में जान-बूझकर निर्माण का ढंग बदल दिया गया है। इस प्रकार प्रेमचन्द में शिल्पकार का संयम भी है और उसकी साहसिकता भी। वास्तव में इन दो विरोधी गुणों का सम्यक् संतुलन ही कलाकार को आगे बढ़ाता है। प्रेमचन्द के इन्हीं दो गुणों के सम्यक् संतुलन के कारण उनके उपन्यास हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय हुए और उन्होंने उनकी रुचि का परिष्कार किया। इस रूप में प्रेमचन्द के शिल्प-विकास के साथ पाठकों के रुचि-विकास की कहानी जुड़ी हुई है।

प्रेमचन्द के पहले के पाठकों का एक विशेष प्रकार का रुचि बोध था। लेकिन उसमें भी परिवर्तन के आसार नजर आने लगे थे। देश में नवजागरण के स्वर गूँज रहे थे और उसकी ध्वनि सभी के कानों में पड़ रही थी। नवयुग की समस्याएँ और भाव-विचार सभी को स्पन्दित कर रहे थे। किस्सा कहानी पढ़कर मनोरंजन करने वाले और समय काटने वाले लोग भी देश-दशा के आसंग में थे। वे उपन्यासों और कहानियों में वास्तविक जीवन और समाज की जीवित धड़कनों को अनुभव करना चाहते थे। लेकिन यह सब होते हुए भी पाठकों के रूप में उनके संस्कार पुराने थे। वे नये उपन्यास पढ़ना तो चाहते थे लेकिन नवीनता एक सीमा तक ही स्वीकार कर सकते थे—बहुत आगे बढ़ी नवीनता उनके लिये ग्राह्य न हो सकती थी। इसलिये उस समय यदि 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'गोदान' जैसे उपन्यास लिखे जाते तो ऐसे पाठक कठिनाई में पड़ जाते। तब उनके मन में उपन्यास सम्बन्धी जो धारणा थी उसके अनुसार ये उपन्यास ही सिद्ध नहीं होते। इसलिये तब ऐसे कथाकार की जरूरत थी जो पाठकों की सीमाओं और अपेक्षाओं को ठीक-ठीक समझे और उसके अनुसार

कथा कहे। प्रेमचन्द ने ऐसा ही किया। इसलिये उनके उपन्यासों को ऐसे पाठकों ने भी सराहा जो उपन्यास से सुसम्बद्ध कथा और सामान्य चरित्र विकास चाहते थे और ऐसे लोगों ने भी पसन्द किया जो उपन्यासों में वास्तविक जीवन का चित्र और समाज-दशा की आलोचना चाहते थे।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने सबसे पहले कथानक के घेरे को तोड़ने की कोशिश की। पहले जिस प्रकार नाटकों में ऐक्य-निर्वाह की चेष्टा की जाती थी उसी प्रकार प्रेमचन्द के समय तक उपन्यासों में भी ऐक्य-निर्वाह आवश्यक समझा जाता था। लेकिन प्रेमचन्द ने कथा के रूढ़ ऐक्य-निर्वाह को आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने वृहद् सामाजिक जीवन को चित्रित करने का बीड़ा उठाया और कथानकों को स्थापत्य के रूप में नहीं, नदी-प्रवाह के रूप में अग्रसर किया। इस प्रकार प्रेमचन्द ने कथानकों में स्थिरता के स्थान पर गति का समावेश किया। पहले के उपन्यासों में कथानक का घेरा स्थिर होता था और पात्र और घटनाएँ उसके अन्तर्गत चक्कर काटते थे। लेकिन प्रेमचन्द ने घटनाओं और चरित्रों के साथ कथानकों को भी चलते, दौड़ते और भागते चित्रित किया। जीवन के अनेकमुखी चित्रण को सम्भव कर पाने के लिये उन्होंने कई कथाओं को समानान्तर गति से आगे बढ़ाने की चेष्टा की ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कई नदी-प्रवाह समानान्तर गति से आगे बढ़ते हैं, मौके पर एक दूसरे को काटते हैं, उनसे मिलते हैं और अलग हो जाते हैं। कथा को इस रूप में आगे बढ़ाने से बृहत्तर सामाजिक जीवन अपनी गतिमयता और परिपूर्णता के साथ उपन्यासों में, ठीक ठिकाने से, स्पंदित होने लगा।

प्रेमचन्द ने जिस पराधीन काल में लेखनी उठाई और अपने देश को दुहरी दासता से मुक्त करना चाहा उस युग में बँधे-सधे कथानकों से कथाकार का अभिप्रेत व्यक्त नहीं हो सकता था। जिस प्रकार उस समय की कविता ने छन्दों के बन्धन तोड़कर मुक्त छन्द का वरण किया उसी प्रकार उपन्यासों में रूढ़ कथानकों के स्थान पर खुले, फैले और लचीले कथानक अपनाये गये जो तत्का-कालिक भाव-विचार को अधिक सफलता से व्यक्त कर सकते थे। इस रूप में प्रेमचन्द का शिल्प उनके युग से प्रभावित है। यदि ऐसे संघर्षपूर्ण युग में रहकर

भी प्रेमचन्द सधे-बँधे कथानकों के उपन्यास लिखते होते तो यह अस्वाभाविक तो होता ही, समग्र रूप से अनुपयोगी भी समझा जाता।

शिल्पविधि को ध्यान में रखकर प्रेमचन्द के उपन्यास दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) सुसम्बद्ध कथानक वाले उपन्यास और (२) समानान्तर या दुहरे कथानक वाले उपन्यास। प्रथम में हम 'सेवासदन', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' और 'गबन' को ले सकते हैं और द्वितीय में 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' को। शिल्प-विधि के ये दो प्रकार के वर्ण्य-विषय की अभिव्यक्ति के अनुकूल हैं। सुसम्बद्ध कथानक वाले उपन्यासों में जीवन का सीमित पक्ष समग्रता और गहनता में चित्रित होता है। चूंकि वहाँ कथानक के घेरे के बाहर जाने का अवकाश नहीं रहता इसलिये कथाकार कथाभूमि के अन्तर्गत विभिन्न भाव-स्थितियों और मुख्य और गौण चरित्रों का पूर्ण विश्लेषण करता है। प्रेमचन्द के ऐसे कितने उपन्यास हैं जिनमें आये अधिकांश चरित्रों का विकास पूर्णता और विस्तार से हुआ। इस दृष्टि से 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' के कितने ही चरित्र लिये जा सकते हैं। इन चरित्रों को लेखक ने कुछ ही रेखाओं और थोड़े से रंगों से उभारने की चेष्टा नहीं की है जैसा कि उन्होंने अपने बड़े उपन्यासों में किया है। समानान्तर कथानक वाले उपन्यासों में लेखक को इतना अवकाश नहीं रहता कि वह हर छोटे-बड़े चरित्रों को विस्तार और परिपूर्णता में आँके, उनके चरित्र की रेखाएँ धीरे-धीरे खींचे और रंग हल्के-हल्के भरे। ऐसे उपन्यासों में कथाकार सभी भाव-स्थितियों का सफल आकलन भी नहीं कर सकता। यहाँ तो लेखक का ध्यान कुछ प्रमुख चरित्रों पर रहता है और उनके माध्यम से वह सामाजिक जीवन की गति और त्वरा सूचित करता है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर की तुलना में और कौन सा चरित्र इतनी प्रमुखता के साथ उभर सका है? जब कि चरित्र अनेक हैं।

सुसम्बद्ध कथानक वाले उपन्यासों में चरित्र दूर से ही अलग-अलग जाने जाते हैं लेकिन समानान्तर या दुहरे कथानक वाले उपन्यासों में कुछ ही चरित्र अलग से पहचाने जाते हैं, नहीं तो बाकी सामाजिक शक्तियों की गति और प्रवेग स्पष्ट करने में ही चूक जाते हैं। स्वयं अन-उभरे रहकर सामाजिक स्थितियों

का उभार देना ऐसे चरित्रों की सार्थकता है। 'प्रेमाश्रम' में बलराज, मनोहर, विलासी, सुक्खू चौधरी, दुखहरण, कादिर मियाँ का चरित्र-विकास अलग-अलग उतनी स्पष्टता से नहीं होता। उनके चारित्रिक विकास को अलग-अलग दिखलाने का कथाकार को अवकाश कहाँ है ? और उसकी जरूरत भी क्या है ? यहाँ तो वे उसी प्रकार से चित्रित हुए हैं जिस प्रकार दौड़ती जलधारा की तरंगे क्षणभर को अलग-अलग दीखती हैं लेकिन हैं वे अन्ततः धारा में ही अन्तर्निहित उसी की इकाइयाँ। इसलिये जहां 'सेवासदन' पढ़ने पर कितने ही चरित्र हमारी आँखों के सामने आ खड़े होते हैं वहाँ 'प्रेमाश्रम' पढ़कर अलग-अलग चरित्रों के व्यक्तित्व नहीं उभरते, उभरता है तत्कालीन भारतीय समाज का श्रेणी-संघर्ष और गाँवों का सिर उठाता हुआ जीवन।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में वस्तु और शिल्प का विकास सीधी लकीर-सा नहीं हुआ है। विकास-पथ पर वे आड़े-तिरछे होकर बढ़े हैं। आगे बढ़ने का यह ढंग उनके कलाकार के अन्तर्द्वन्द्व का सूचक है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द उद्देश्यमूलक साहित्य रचना के हिमायती थे लेकिन उनके अंतर का कलाकार भी कम आग्रही और बलशाली नहीं था। इसलिये उनके कला-बोध और समाज-बोध में द्वन्द्व होना अनिवार्य था। उनका द्रष्टा रूप जहाँ उन्हें 'प्रेमाश्रम', रंगभूमि' और 'गोदान' जैसी कृतियाँ रचने के लिये प्रेरित करता था वहाँ उनका स्रष्टा रूप 'निर्मला' और 'गबन' की रचना के लिये प्रेरणा देता था। इस प्रकार शिल्प और विषय का द्वन्द्व प्रेमचन्द के लिये यातना न होकर वरदान था। वे बहुधा अपने दोनों ही रूपों—स्रष्टा और द्रष्टा से चालित होते थे। इसलिये जहाँ उन्होंने 'सेवासदन' के बाद 'प्रेमाश्रम' की रचना की वहाँ 'प्रेमाश्रम' के बाद 'निर्मला' की रचना भी की।

जिस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में कथाओं की समानान्तरता लक्षित होती है, उसी प्रकार शिल्पविधि की समानान्तरता भी है। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' की रचना के बाद उन्होंने दोनों ही प्रकार की निर्माण-पद्धतियों को आगे बढ़ाया। एक से प्रेरित होकर उन्होंने 'निर्मला' और 'गबन' की रचना की और दूसरे से प्रेरित होकर 'रंगभूमि' और 'गोदान' की। इस रूप में प्रेमचन्द दुहरे शिल्प वाले लेखक थे। वे एक ओर सुघटित कथा भी गढ़ते थे और दूसरी ओर कथानक को

विघटित भी करते थे। ऐसा करने में बहुधा उनके दोनों गुणों का समन्वय भी हो जाता था। इसलिये उनके विघटित कथानक वाले उपन्यासों में भी एक विरल सुसम्बद्धता है और सुसम्बद्ध कथानकों में भी एक प्रकार की व्यापकता और विस्तार।

शिल्पविधि के स्वरूप-विकास की दृष्टि से प्रेमचन्द की तुलना टालस्टाय से की जा सकती है। जिस प्रकार टालस्टाय ने एक ओर 'अन्नाकेरनिना' और दूसरी ओर 'वार एण्ड पीस' जैसे उपन्यासों की रचना की उसी प्रकार प्रेमचन्द ने भी एक ओर तो 'निर्मला' और 'गबन' जैसे उपन्यास लिखे और दूसरी ओर 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों की रचना की। वास्तव में आधुनिक युग के उपन्यास इन द्विविध शिल्प-रूपों को लेकर ही सफलतापूर्वक जी सकते हैं। लोकप्रिय साहित्य रूप होने के नाते जहाँ वे निर्माण के ढंग को महत्त्व देने के लिये विवश हैं वहीं जनतांत्रिक विधा होने के कारण समाज के विचार-प्रवाह और घटना-प्रवाह को दर्शाने के लिए बाध्य हैं।

पुराने जमाने में जातीय जीवन की महागाथा महाकाव्यों के रूप में उपस्थित होती थी। सभ्यता के विकास के साथ-साथ महाकाव्यों का स्थान उपन्यासों ने ले लिया। अब जातीय जीवन की महागाथा उपस्थित करने का उत्तरदायित्व महाकाव्यों पर न होकर उपन्यासों पर है। इस रूप में, आधुनिक युग में, उपन्यासों का एक नया ढंग विकसित हुआ है जिसे महाकाव्यात्मक गरिमा वाले उपन्यास (Epic Novel) कहा गया है। किसी भी जीवित समाज में, उसके विशिष्ट संघर्ष के दौरान ऐसे उपन्यासों का लिखा जाना अनिवार्य है। प्रेमचन्द का युग जाग्रत भारतीय समाज के विशिष्ट संघर्ष के दौरान का युग है। इसलिये प्रेमचन्द ने सबसे पहले महाकाव्यात्मक गरिमा वाले उपन्यास लिखे। ऐसे उपन्यासों का स्वरूप-निर्देशन 'प्रेमाश्रम' से ही शुरू हो जाता है लेकिन उसका सुष्ठ रूप 'गोदान' में परिलक्षित होता।

हिन्दी के आलोचकों ने प्रेमचन्द की शिल्प-विषयक उपलब्धि को 'गोदान' में आकर स्वीकारा। लेकिन इस शिल्प-साधना की नींव प्रेमचन्द बहुत पहले डाल चुके थे। इसे अपने कई उपन्यासों में, क्रम-क्रम से, वे माँजते रहे और 'गोदान' में

परिपूर्णता के साथ उपस्थित हुए। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की शिल्पविधि का धीमी गति से क्रमिक विकास हुग्रा जो बदलती हुई परिस्थितियों के ग्रनुरूप है। 'सेवासदन' से 'प्रेमाश्रम' तक के शिल्प का संक्रमण एक छलाँग-सा लग सकता है लेकिन उसके बाद प्रेमचन्द शिल्प की साधना-भूमि पर पाँव जमा कर ही चले हैं, छलाँग नहीं मारी है। ऐसा उन्होंने इसलिये नहीं किया वे विशुद्ध शिल्पकारी लेखक नहीं थे। वे पहले समाज की धड़कन सुनते थे ग्रौर उसके बाद ही धड़कन के ग्रनुरूप शिल्प ढूँढ़ते या रचते थे।

आंचलिक तत्व

गाँव का शान्त जीवन मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग है। मैं खुद एक देहाती आदमी हूं और मेरे साहित्यिक उद्यम का अधिकांश उस कर्ज को चुकाने में गया है जो मेरे देहाती भाइयों का मेरे ऊपर है।

—प्रेमचन्द

—चिट्ठी पत्री २, पृ० २११

हिन्दी कथा-साहित्य में आंचलिकता का विकास बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक के बाद प्रारम्भ होता है। यों उसके पूर्व भी कई कथा-कृतियां प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें, थोड़े बहुत मतभेद के साथ, आंचलिक कहा जा सकता है। पर जहाँ तक ज्ञात है सबसे पहले नागार्जुन का 'बलचनमा' ही एक परिपुष्ट आंचलिक कृतित्व के रूप में हमारे सामने आया। स्वयं 'बलचनमा' के लेखक की एकाध कथा-कृति जैसे 'रतिनाथ की चाची' पहले ही प्रकाश में आ चुकी थी। लेकिन कृति के सामान्य होने के कारण उसकी औसत आंचलिकता भी किसी के दृष्टि-पथ में नहीं आई। वैसी औसत आंचलिकता उस समय की कई कथा-कृतियों में लक्षित की जा सकती है—जैसे भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया' में। लेकिन तब तक आंचलिकता एक शैली या प्रवृत्ति के रूप में प्रस्फुटित नहीं हुई थी। इस दृष्टि में 'बलचनमा' ने ही आंचलिकता को प्रवृत्ति या शैली के रूप में प्रवर्तित किया।

पहले के लेखक अंचल विशेष को मुखरित करते हुए भी आंचलिकता के प्रभावों को स्फीत करके दिखाने के अभ्यासी नहीं थे। लेकिन नागार्जुन ने यह

आवश्यक समझा। इसके कारण भी थे। नागार्जुन ने अपने उपन्यास के लिये जो नायक चुना वह ठेठ ग्रामीण था—प्रेमचन्द के होरी की परम्परा में। इसलिए उसकी भाषा-शैली में आंचलिकता के प्रभूत संस्कार हों यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी समझा गया। यों तो प्रेमचन्द के 'गोदान' की तरह 'बलचनमा' में भी निम्नवर्ग और उच्चवर्ग दोनों हैं, पर 'गोदान' में उच्चवर्ग का एक विशिष्ट अनुपात है जब कि 'बलचनमा' में उच्चवर्ग नितान्त गौण भाव से ही आया है। उच्चवर्ग बलचनमा की वाणी के व्याज से ही अपनी अभिव्यक्ति पाता है। इसलिये वहाँ अबाध आंचलिकता की गुंजाइश है। 'गोदान' में राय साहब, राजा साहब, मेहता, मालती, ओंकारनाथ, खन्ना सबको बोलने का अवसर दिया गया है, पर 'बलचनमा' में बलचनमा ही बोलता है, उच्चवर्ग के अन्य पात्र-पात्री तो उसके लिये उपकरण मात्र हैं, प्रतिक्रिया रूपी अग्नि को धधकाने के लिये ईंधन की तरह। कथा बलचनमा की आपबीती के रूप में है, इसलिये आंचलिकता स्वाभाविक और ग्राह्य लगती है, लेखक द्वारा आरोपित नहीं।

'बलचनमा' के बाद आंचलिकता की दृष्टि से दूसरी समर्थ कथा-कृति फनीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल' है। रेणु को 'मैला आंचल' के प्रकाशन से प्रभूत यश मिला। पाठकों का कहना है कि किसी एक ही कृति से, और वह भी सर्व प्रथम ऐसी प्रतिष्ठा जैनेन्द्र के बाद रेणु को ही मिली। यह सही है। लेकिन 'मैला आंचल' का प्रकाशन-काल भी एक बहुत बड़ा कारण है, जिसके चलते वह उस रूप में समादृत हुआ और रेणु को इतना यश मिला। 'मैला आंचल' यदि अपने प्रकाशन-काल से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ होता (क्योंकि वह पहले लिखा जा चुका था), तो कुछ हद तक पिट गया होता या यदि वह अपने प्रकाशन-काल से कुछ वर्ष पीछे प्रकाशित होता, तो आंचलिक कृतियों की भीड़ में कुछ हद तक खो गया होता। इस दृष्टि से 'मैला आंचल' के प्रणेता को स्वीकार करना होगा कि 'बलचनमा' के प्रकाशन ने पाठकों के बीच एक ऐसी भाव-भूमि, एक ऐसा रस-बोध प्रस्तुत कर दिया था कि पाठक उस प्रकार की आंचलिक कृतियों का स्वागत करने के लिये प्रस्तुत थे। 'बलचनमा' के पहले भी नागार्जुन को एक अच्छी साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, उनका एक साहित्यिक व्यक्तित्व

बन चुका था, कवि और उपन्यासकार के रूप में वे जाने-माने जा चुके थे। इसलिये पहली कृति से उनको थोड़ा बहुत यश मिलना ही था। आलोचक आसानी से कोई फतवा देकर उनकी कृति को परे फेंक देता, यह सम्भव नहीं था। पर रेणु को यह खतरा था। यदि तब तक पाठकों के मन में आंचलिकता के लिये कोई आग्रह या स्थान नहीं होता, जो 'बलचनमा' के प्रकाशन से सम्भव हुआ था, तो वे 'मैला आंचल' को देखकर नाक-भौं सिकोड़ सकते थे। रेणु को पाठक एक सफल उपन्यासकार मानकर रिकोग्नाइज़ करते हों, ऐसी कोई बाध्यता पाठकों के ऊपर नहीं थी। 'मैला आंचल' के पूर्व रेणु की कोई पूर्वार्जित ख्याति नहीं थी कि पाठक अपनी राय देते समय किसी प्रकार की ममता या सौजन्य का ख्याल करता। बहुधा नये लेखक की प्रथम कृति पर राय प्रकट करने में पाठक निर्मम और कठोर होता है। इसलिये 'मैला आंचल' को एक खतरा था। लेकिन नागार्जुन ने 'बलचनमा' प्रकाशित कर वह खतरा पहले ही मोल ले लिया था।

अस्तु 'मैला आंचल' के बाद तो फिर आंचलिक कृतियों की वह धूम मची कि दशक समाप्त होते न होते पचासों आंचलिक कृतियां उपलब्ध हो गईं। न केवल नये उपन्यासकारों ने, वरन् उदयशंकर भट्ट जैसे पुराने लेखकों ने भी, अंचल विशेष को चित्रित करने के क्रम में आंचलिकता का आश्रय लिया और उसे शैली और प्रवृत्ति के रूप में विकसित किया। इस प्रकार अनेक नये और पुराने लेखकों ने मिलकर आंचलिकता को कथा-साहित्य में सदा-सर्वदा के लिये स्थापित कर दिया।

आंचलिकता पर विचार करने के क्रम में आसानी से उसके दो वर्ग निर्धारित किये जा सकते हैं—सामान्य आंचलिकता या आंचलिकता का सहज स्वाभाविक रूप और असामान्य आंचलिकता या आंचलिकता का उग्र और स्फीत रूप। सामान्य आंचलिकता हिन्दी के लिये बड़ी चिरपरिचित प्रवृत्ति रही है। इसे वृन्दावनलाल वर्मा से लेकर निराला और प्रेमचन्द तक सब में देखा जा सकता है। चाहे बुन्देलखंड का अंचल विशेष हो या उत्तर प्रदेश का, या ठेठ अवध का, ये अपनी विशेष भौगोलिकता, भाषा और रहन-सहन के कारण उपर्युक्त लेखकों

में आसानी से पहचाने जा सकते हैं। यदि स्फीत आंचलिकता की बात लें, तो बाबू शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' का नाम लेना सुविधाजनक होगा। आज की किसी भी आंचलिक कृति से 'देहाती दुनिया' कम आंचलिक नहीं है। लेकिन उसने आंचलिकता का दावा इसलिये नहीं किया था कि तब आंचलिकता एक फैशन या प्रवृत्ति के रूप में सामने नहीं आई थी।

प्रेमचन्द की रचनाओं में आंचलिकता के दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। सामान्य आंचलिकता तो एतत् सम्बन्धी कहानियों और उपन्यासों में है ही, लेकिन स्फीत आंचलिकता के लिये 'गोदान' सबसे सुन्दर उदाहरण है। ऐसे कितने ही शब्द, जो अंचल विशेष में प्रयुक्त होते हैं, और जो उस विशेष अंचल की अभिव्यक्ति के अचूक साधन हैं, 'गोदान' में पाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये खलेटी, मुरहे, क्लोरों, मोटमरदी, अढ़ौना, औंगी, अरदब, मुग्गा, धामड़, नियरे, मुतफन्नी, चोंचाल आदि शब्द लिये जा सकते हैं। इन शब्दों का प्रयोग प्रेमचन्द ने बड़े ही सहज स्वाभाविक ढंग से किया है। आज के आंचलिक कथा-कारों की तरह प्रेमचन्द ने इन्हें ढूंढ़ा नहीं है।

स्थानीय बोलियों के शब्दों का कृति में क्या औचित्य है, इस पर विचार करते हुए डा० देवराज उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'कथा के तत्त्व' में लिखा है कि "बोलियों के शब्दों के प्रयोग में इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि उपन्यास की रचना पात्रों के आन्तरिक जीवन की झाँकी देने के लिये होती है, बोलियों की विशेषताओं के प्रकटीकरण के लिये नहीं। इसके लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि उपन्यास में स्थानीय लोक-व्यवहार के शब्दों की भरमार हो, शब्दों के अशुद्ध विवरण दिये जायं, वाक्य-विन्यास को विकृत किया जाय। ऐसे कुछ ही शब्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग करने से हर स्थानीय वार्तालाप के स्वरूप का आभास दिया जा सकता है। यदि आप ग्रामीणों की बोलियों की ध्वनियों को हू-ब-हू कागज पर उतार कर रखने का प्रयत्न करते हैं, तो याद रखिये पाठकों का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर से हटाकर एक तुच्छ बात की ओर प्रेरित करते हैं।" प्रेमचन्द ने इस सत्य को समझा था। इसलिये उनकी रचनाओं में कुछ ही शब्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग मिलते हैं। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ

लीजिये—"धनिया सिर से पांव तक भस्म हो उठी। मन में ऐसा उद्वेग उठा कि अपना मुंह नोंच ले। बोली तुम जैसा धामड़ आदमी भगवान ने क्यों रचा कहीं मिलते तो उनसे पूछती।" यहाँ एक धामड़ शब्द के प्रयोग से ही धनिया के मनोभावों को ठीक-ठीक व्यक्त किया गया है। प्रेमचन्द शब्दों के ऐसे कौशल-पूर्ण प्रयोगों से ही स्थानीय वार्तालाप के स्वरूप का समुचित आभास देते हैं। वे न तो वाक्य-विन्यास को विकृत करते हैं, न ग्रामीण शब्दों का जुलूस खड़ा करते हैं और न उन्हें मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर आंचलिक प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं। दुधार, मेहरिया, साइत, दिक, सबील, अबकी, नथुनिया, बिलम, अगोरना, छान, लहास, मटरगस्ती, बुड़बकपन आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जो अपने सन्दर्भ में बहुत सार्थक और सटीक हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये शब्द ग्रामीण वार्तालाप की आत्मा हैं। ये शब्द हमारे लिये परिचित होते हुए भी ग्रामीण-भाषा के अंश हैं। इनके साथ ग्रामीण संस्कृति और सम्वेदना का अद्भुत लगाव है।

यदि कठिन तत्सम शब्दों का लोक-प्रचलित रूप देखना हो तो सौंह, रपट, वखत, बन्स, जेहल, अरज, भिरस्ट, जैजात आदि शब्द लिये जा सकते हैं। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में इन शब्दों का ऐसा सहज और सार्थक प्रयोग किया है कि ये भाषा-शैली में नगीने की भाँति जड़े मालूम होते हैं। इन शब्दों के सम्बन्ध में एक बात यह ध्यान देने की है कि लोक-जीवन में ये शब्द जिस सीमा तक भ्रष्ट हैं, पात्रों के वार्तालाप में वे उसी सीमा तक भ्रष्ट दिखाये गये हैं। आंच-लिकता के प्रभावों को बढ़कर चित्रित करने के उत्साह में इन्हें और विकृत नहीं किया गया है।

'गोदान' से, न केवल आंचलिक शब्दों वरन् मुहावरों और कहावतों की दृष्टि से भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो विशेष आंचलिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। गच्चा खा चुका, पिते पानी कर दिये, पटकनी दी, आकाश तका दिया जैसे मुहावरे ग्रामीण-भाषा के अभिन्न अंग के रूप में ही आये हैं।

यदि ग्रामीण गालियों की बात लीजिये, तो एक धनिया ही एक सांस में कितनी गालियां कह जाती है—मिट्टी उठे, हैजा हो जाय, मरी आये, मैया लील

जाय, कोढ़ी हो जाय, हाथ-पांव कट-कट गिरे आदि गालियाँ ध्यान देने-योग्य हैं। धनिया और अन्य लड़ाकू स्त्रियाँ ऐसी गालियों का खुलकर प्रयोग करती हैं। इन गालियों से ग्रामीण पात्रों की स्वभाव-संस्कृति की जो विशद व्याख्या होती है, वह इतर साधनों से कतई सम्भव नहीं थी। यदि कहावतों की खोज हो तो 'नाटन खेती बहुरियन धर' जैसी कहावतें भी आसानी से मिल जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि आंचलिकता के जो सर्वमान्य तत्त्व हैं, वे प्रेमचन्द के 'गोदान' में प्रभूत संख्या में उपलब्ध होते हैं। वहाँ भी नोखेराम की चौपाल में मुखिया लोगों का कैबिनेट बैठता है और नायक उमंग में आकर गा उठता है—

हिया जरत रहत दिन रैन
आम की डरिया कोयल बोले
तनिक न आवत चैन—

आज के नये और उत्साही कथा-लेखक तो आंचलिकता के अतिरेक में ऐसे शब्द गढ़ निकालते हैं जिन्हें अंचल-विशेष की जनता जानती तक नहीं, बोलने की बात तो दूर है। बात-बात में ढोल और नगाड़े और नाच और गाने तो आंचलिकता के फैशन हो गये हैं। कुछ चुने हुए शब्दों, मुहावरों और गीत-कड़ियों से आंचलिकता को उभार देना आज सरल और सम्भव हो गया है। डाक्टर को गांवों की अपढ़ जनता डागडर कहती है। लेकिन आज के आंचलिक उपन्यासकारों को इससे संतोष नहीं होता, वह डाकधर तक कहला सकता है। इस प्रकार शब्द को मनमाने ढंग से विकृत कर उसे अंचल विशेष की जनता के नाम पर चलाना आज की सामान्य प्रवृत्ति हो गई है। प्रेमचन्द या उनके समकालीनों में आंचलिकता का यह आवेश नहीं है।

'गोदान' में बहुत से ऐसे वर्णन हैं जिससे सजीव आंचलिक-चित्र सामने आते हैं। सोना के पति मथुरा के घर-आंगन का वर्णन देखिये—"ओसारी में खाट है। उस पर सुजनी का नर्म बिस्तर बिछा हुआ है। तकिया भी है, लिहाफ भी हैं। खाट के नीचे लोटे में पानी रखा हुआ है। आंगन में ज्योत्स्ना ने आईना सा बिछा रखा है। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ढेढ़ों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गड्ढे हैं।

समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा हुआ है। खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर की ओसारी में एक गाय बँधी हुई है।" इसीसे मिलता-जुलता सोना का रूप-वर्णन है—"गले में हँसुली और हुमेल है, कानों में करनफूल और सोने की बालियाँ, हाथों में चांदी के चूड़े और कंगन, आंखों में काजल है, मांग में सेंदुर।" ऐसे चित्र आंचलिक वातावरण को उभारकर सामने रख देते हैं। मथुरा के घर-आंगन के रूप में देहात के घर-आंगन की वास्तविक झाँकी मिल जाती है। प्रेमचन्द ऐसे सधे और स्वाभाविक वर्णन में अत्यन्त कुशल हैं।

आंचलिक उपन्यासों पर विचार करने के क्रम में प्रस्तुत लेखक ने स्वीकार किया है कि आंचलिकता अन्ततः यथार्थवाद का ही चरम विकास है। आलोचकों ने प्रायः माना है कि "आंचलिक उपन्यासों के सृजन में जो मनोवृत्ति काम करती है वह रोमांटिक कल्पनाशील नहीं होगी, अपनी कल्पना के पर को फैलाकर गगन-विहारी पक्षी की नहीं होगी, जमीन की सतह पर धूलि फाँकते हुए चलने वाले पदचारियों की होगी।"[१] अंग्रेजी के आंचलिक उपन्यासकारों के कथनों का हवाला देकर इसी बात की पुष्टि की गई है। इससे स्पष्ट है कि यथार्थवाद के साथ-साथ आंचलिकता का विकास सम्भव हुआ। स्थान, काल और पात्र के सही वर्णन के क्रम में विशेष सतर्कता बरतने के कारण ही आंचलिकता प्रवृत्ति के रूप में पनपी और पुष्ट हुई। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की कथा-कृतियों में आंचलिक तत्त्वों की उपस्थिति नितान्त स्वाभाविक है। हिन्दी कथा-साहित्य में यथार्थवाद के आदि-प्रतिष्ठाता के रूप में प्रेमचन्द का नाम लिया जाता है। पहले वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पुरस्कर्ता के रूप में सामने आते हैं, फिर जीवन के अनुभवों से जान जाते हैं कि मात्र यथार्थ ही जीवन का सत्य है, आदर्शों से कुछ होने-जाने वाला नहीं है। इसलिये 'गोदान' तक आते-आते उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मात्र यथार्थवाद रह जाता है। उनकी अन्य कृतियों की अपेक्षा 'गोदान' में यथार्थ अधिक है और इस नाते आंचलिकता भी अधिक है।

---

(१) डॉ० देवराज उपाध्याय : कथा के तत्त्व।

प्रेमचन्द की आंचलिकता का सार्वभौमिकता से विरोध नहीं है। अंचल विशेष के जीवन को मुखरित करते हुए भी वे सम्पूर्ण जीवन को, जो काल, स्थान और पात्र से परे है—मुखरित करते हैं। "यदि स्थानियता के सीमित परिवेश के माध्यम से मानव जीवन की अनन्तता, निगूढ़ता और शाश्वतता व्यक्त करना" ही आंचलिक कृतियों का अभीष्ट हो, तो प्रेमचन्द की कृति में यह सहज ही सम्भव हो सका है। होरी, गोबर, धनिया, झुनिया, रूपा, सोना, सिलिया, नोहरी, पटेश्वरी, नोखेराम, दातादीन, झिंगुरी ये सभी पात्र उत्तर-भारत की धूल-मिट्टी से बने हैं किन्तु इनमें जो जीवन-सत्य है वह इन्हें स्थान और अंचल के घेरे से निकालकर विश्व-रंगमंच पर ले जाने में सहज ही समर्थ है। जिस प्रकार टामस हार्डी के सम्बन्ध में कहा गया है कि वेसेक्स की भूमि और पात्रों के माध्यम से वह जो कथा-जाल बुनता है उसमें मानव भावों की निर्बाध निगूढ़ अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रेमचन्द के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि बेलारी की भूमि और पात्रों के माध्यम से प्रेमचन्द जो कथा-जाल बुनते हैं उसमें मानव भावों की निर्बाध और निगूढ़ अभिव्यक्ति होती है। यह प्रेमचन्द की कला ही है कि ये पात्र स्थान-विशेष के नहीं रह जाते, वरन् अपने व्यक्तित्व का प्रसार कर सार्वजनीन प्रतिनिधि बन जाते हैं।

डा० देवराज उपाध्याय ने यह ठीक ही कहा है कि "उपन्यास को इतने गाढ़े आंचलिक रंग से रंग देना कि वह विश्व से होकर आनेवाली किरणों का प्रवेश निषिद्ध करने लगे, कला के हाथ से एक बहुत बड़े प्रभाव के साधन को छीन लेना होगा।" प्रेमचन्द ने इस आशंका का अनुभव किया था। इसीलिये उनकी कृतियों में स्थानीय शब्दों, मुहावरों और बोलियों का जो रंग है वह बहुत हल्का, साफ, स्वाभाविक और सधा हुआ है। उन्होंने आज के आंचलिक उपन्यासकारों की तरह गाढ़ा चमचमाता हुआ रंग पोतकर उस पर आंचलिकता की तीखी वार्निश नहीं फेरी कि कलाकृति की पारदर्शिता खत्म हो जाय। जिस प्रकार एक छोटे छिद्र-द्वार से समस्त संसार को देखने का यत्न सम्भव है, उसी प्रकार आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से स्थान, काल और पात्र से मुक्त मानव जीवन का निर्बाध चित्रण ही अभीष्ट है। यह उक्ति प्रेमचन्द के 'गोदान' पर सम्पूर्णतः सत्य घटती है।

पड़ने वाले प्रभाव

जो प्राणी केवल अतीत में रहे, पुरानी सम्पदा का स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आने वाली बातों की तरफ से आँखें बन्द कर ले वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें सन्देह है।

—प्रेमचन्द

—साहित्य का उद्देश्य, पृ० ६०

प्रेमचन्द अपने युग के महान् साहित्यकार थे। प्रत्येक महान् साहित्यकार की भाँति उन्होंने नानाविध प्रभावों को तत्परता से ग्रहण किया और उसके उपयोगी अंशों को पचाकर अपनी प्रतिभा का अंश बना डाला।

जब भी किसी लेखक पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा होती है तो ऐसा मान लिया जाता है कि प्रभावित होना लेखक की अपरिपक्वता का द्योतक है जबकि वास्तविकता यह है कि प्रभावित होना किसी लेखक का सामर्थ्य, उसकी तत्परता और ग्रहणशीलता स्पष्ट करते हैं। ऐसा अक्सर ही देखा गया है कि श्रेष्ठ साहित्यकारों पर पड़ने वाले प्रभावों की बड़ी छानबीन की गई है जबकि कम महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों पर पड़े प्रभावों की खोज के लिये आलोचक तत्पर नहीं हुए हैं।

लेखक पर पड़ने वाले नानाविध प्रभाव यह सूचित करते हैं कि प्रभावित होने वाला लेखक अपने काल का अधिक सचेत प्राणी होने के नाते अधिकाधिक लेखकों, विचारधाराओं, नेताओं और शैलियों के सम्पर्क में आता है। तभी वह प्रभाव ग्रहण करने की स्थिति में होता है। लेकिन यह प्रभावित होने वाली स्थिति क्षणिक होती है। लेखक के जीवन में इसका ऐतिहासिक महत्त्व ही होता है क्योंकि पड़े हुए प्रभाव कालान्तर में प्रतिभा की अदृश्य रासायनिक प्रक्रिया द्वारा लेखक के व्यक्तित्व के अंश हो जाते हैं और उस रूप में लेखक की मौलिकता दर्शाते हैं।

इसलिये विवेचन के क्रम में लेखक पर पड़ने वाले प्रभावों का तात्पर्य लेखक के वैचारिक और शैलीगत विकास का दिग्दर्शन होता है।

प्रभाव की कई कोटियाँ और प्रकार माने जा सकते हैं। पूर्ववर्तियों के प्रभाव समकालीनों के प्रभाव से भिन्न होते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि पूर्ववर्तियों का जीवन और कृतित्व बरगद की छाँह की तरह आने वाले लेखक के पहले ही वातावरण में पला हुआ होता है। इसके विपरीत समकालीनों का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता और फैलता है।

प्रकार की दृष्टि से प्रभाव के और दो किस्म माने जा सकते हैं—एक तो अनुकूल प्रभाव (Positive influence) और दूसरा प्रतिकूल प्रभाव (Negative influence)। अनुकूल प्रभाव में आकर कोई लेखक अपने पूर्ववर्तियों या समकालीनों की कुछ विशेषताओं को उपयोगी पाकर स्वीकार कर लेता है और अपने ढंग से उन्हीं का विकास करता है। इसके विपरीत प्रतिकूल प्रभाव में वह उनकी विशेषताओं को अनुपयोगी पाकर जानबूझकर नकार देता है और उसके स्थान पर उसके ठीक विपरीत गुणों का अपने कृतित्व में नियोजन करता है।

प्रेमचन्द पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा करते समय छः-सात बातें ध्यान में रखनी हैं। पहली तो यह कि—वे उर्दू के लेखक थे और उर्दू साहित्य में महत्ता अर्जित करने के बाद हिन्दी में आये। अर्थात् उन्होंने अपनी प्रतिभा उर्दू लेखकों को पढ़कर ही सजाई-सँवारी। दूसरी बात यह कि वे कुछ कारणों से उर्दू को त्यागकर हिन्दी में आये। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के लिये उनके मन में आकर्षण रहा होगा और इसकी उपलब्धियों और न्यूनताओं का उन्होंने अपने ढंग से आकलन किया होगा और अपने व्यक्तित्व-निर्माण में हिन्दी के उपलब्ध साहित्य से अनुकूल या प्रतिकूल ढंग की प्रेरणा ग्रहण की होगी। तीसरी बात यह कि उर्दू और हिन्दी के अतिरिक्त उन्होंने बंगला लेखकों—बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ, शरतचन्द्र आदि की रचनाओं पर भी ध्यान दिया था। क्योंकि कथा साहित्य की दृष्टि से तब तक बंगला साहित्य का विकास हो चुका था और उसकी रचनाएँ अन्य भाषाओं में अनूदित होकर पाठकों के गले का हार हो रही थीं। अतः प्रेमचन्द के व्यक्तित्व-गठन में इन लेखकों का भी यत्किंचित योग रहा है।

चौथी बात यह कि प्रेमचन्द बहुपठित व्यक्ति थे। देश के अतिरिक्त विदेश का भी बहुत-सा साहित्य उन्होंने पढ़ा था। इस क्रम में वे कई विदेशी लेखकों से प्रभावित थे। उनमें से कुछ की कृतियों का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद भी किया था। पाँचवी बात यह कि प्रेमचन्द कोई लेखक नहीं थे वरन् साहित्य को जीवन-निर्माण का साधन मानते थे अर्थात् खुद को सामाजिक दायित्वों से बँधा अनुभव करते थे। इसलिये वे तत्कालीन सामाजिक-आन्दोलनों और उसके चलाने वालों से दूर नहीं रह सकते थे। इसका भी उनके ऊपर थोड़ा-बहुत प्रभाव रहा है। छठी बात यह कि उनको राजनीति से परहेज नहीं था। भारत के कृषकों-मजदूरों की परिपूर्ण स्वाधीनता उनका लक्ष्य था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो भी सचेष्ट होता वे उसके साथ थे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द पर पड़ने वाले प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों से आये। उनका वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) उर्दू लेखकों का प्रभाव।
(२) हिन्दी लेखकों का प्रभाव।
(३) बंगला लेखकों का प्रभाद।
(४) विदेशी लेखकों का प्रभाव।
(५) सामाजिक संस्थाओं और कार्यकर्त्ताओं का प्रभाव।
(६) राजनीतिक विचार-प्रणालियों और नेताओं का प्रभाव।
(७) साहित्यिक वादों का प्रभाव।

उर्दू लेखकों का प्रभाव

प्रेमचन्द ने अपने सम्बन्ध में लिखा है—"उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पंडित रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। उनकी रचनाएँ जहाँ मिल जातीं स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था।"[1]

---

(१) प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : पृ० १२।

इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के प्रारम्भिक जीवन पर इन लेखकों का बड़ा प्रभाव था। यह प्रभाव क्यों था और इसकी परिणति क्या हुई, इस पर विचार करना आवश्यक है।

मौलाना शरर पर विचार करते हुए डा० एजाज हुसैन ने लिखा है—शरर ने इस्लामी इतिहास की तरफ ज्यादा ध्यान दिया, और उपन्यास की कला को उर्दू में तरक्की देने की कामयाब कोशिश की। कैरेक्टर और प्लाट को औरों से ज्यादा अच्छा निबाहा। उन्होंने इस कला में गम्भीरता लाकर ओछेपन और बाजारीपन से उपन्यास की कला को बचा लिया। इस्लामी इतिहास अरबी और फारसी में दोनों की वजह से मुसलमानों को भूला जाता था। शरर ने नये सिरे से अपने नाविलों की वजह से फिर दुनिया के सामने जिन्दा करके पेश किया। जिसकी वजह से अगले वक्तों के कारनामे नजरों के सामने आ गये, दिलों में एक जोश पैदा हो गया। यही नहीं बल्कि उन्होंने गहरे यकीन और जोश के साथ खास-खास इस्लामी जगहों और लोगों को निहायत ऊँचा करके दिखाया।

(पृ० २८४-८५)

इससे स्पष्ट है कि शरर की रचनाओं में पुनरुत्थानवादी दृष्टि की प्रधानता है। इसका प्रभाव प्रेमचन्द के प्रारम्भिक लेखन पर पड़ा है, यह 'नवनिधि' की ऐतिहासिक कहानियाँ स्पष्ट करती हैं। डा० एजाज हुसैन भी प्रेमचन्द की कहानियों पर विचार करते हुए उनमें पुनरुत्थानवाद की झलक पाते हैं। यह पुनरुत्थानवाद उस समय की आवश्यकता और सचाई भी था। मैथिलीशरणजी 'भारत-भारती' में इसकी संपुष्टि कर चुके थे। लेकिन प्रेमचन्द पर पुनरुत्थानवाद का यह प्रभाव अल्प काल तक ही रहा। उन्होंने शीघ्र ही समझ लिया कि पुनरुत्थानवाद को लेकर चलने से देश की एकता अक्षुण्य नहीं रह सकती। इसलिये उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं में जातीय गौरव का गान नहीं गाया। राजा हरदौल और रानी सारंधा को वे शीघ्र ही भूल गये।

प्रेमचन्द पर शरर का प्रभाव दृष्टिकोण के नाते नहीं, शैली के नाते अधिक पड़ा। प्रेमचन्द ने शरर पर विचार करते हुए लिखा है—"मुलिकल अजीज उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि आम और खास, रिंद और मौलवी सबने उसको

पढ़ा और गहरी दिलचस्पी से देखा। मैसूर मोहना को लोगों ने आँखों पर जगह दी। दुर्गेशनंदिनी और हसन अजीलना बहुत लोकप्रिय हुए। हिन्दुस्तान का कोई शिक्षित मुसलमान ऐसा न था जिसने मौलाना के उपन्यास न पढ़े हों। यहाँ तक कि कुछ ऐसे आलिम भी जिन्हें नास्तिकता के नाम से चिढ़ थी मौलाना की रचनाओं का पढ़ना पुण्यजनक कार्य समझते थे। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा और भाव में इतनी सभ्यता और गम्भीरता थी कि सारे हिन्दु-मुसलमान समाज में उन की शैली लोकप्रिय हुई।" इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द शरर को शैलीकार के नाते अधिक पसन्द करते थे। शरर का जो दृष्टिकोण था उससे प्रेमचन्द के दृष्टिकोण की विशेष संगति नहीं बैठती क्योंकि शरर अनिवार्य रूप से धार्मिक प्रकृति के लेखक थे जबकि प्रेमचन्द का दृष्टिकोण प्रगतिशील था। लेकिन शरर ने जिस कौशल से पुराने विषयों को सजीव बनाकर जनता के सामने उपस्थित किया उसी ने प्रेमचन्द को मुग्ध किया।

रतननाथ सरशार—प्रेमचन्द ने सरशार रचित 'फिसाना-ए-आजाद' का हिन्दी में आजाद कथा नाम से संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत किया है। लोग ऐसा सोचते हैं कि उन पर सरशार का बहुत अधिक प्रभाव है। हमें इस प्रभाव का सही विश्लेषण करना होगा।

सरशार अपने समय के बेहतरीन शैलीकार और किस्सागो थे। भाषा लिखने में भी उनको कमाल हासिल था। उनकी इन्हीं विशेषताओं ने प्रेमचन्द को मुग्ध किया। वैसे सरशार के दृष्टिकोण से प्रेमचन्द के दृष्टिकोण की कोई संगति नहीं है। प्रेमचन्द सरशार की तरह जादुई सम्मोहन रचने वाले कलाकार नहीं हैं। सरशार पर विचार करते हुए श्रीरघुपति सहाय फिराक ने ठीक ही लिखा है कि सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखन कला का पूर्ण पंडित है लेकिन फिर भी वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है बल्कि स्वप्न जगत की एक अस्पष्ट फिल्मी चित्रकारी है। 'फिसाना-ए-आजाद' में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटने वाले शिया अमीरों और रईसों के

जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार की वैभव-शालिनी बुद्धि ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने अपनी कलम के बल से इस छायातुल्य अवास्तविक जगत को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रहस्यों के जीवन में एक प्रकार के अवास्तविक तिलस्म का आकर्षण अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र 'फिसाना-ए-आजाद' के चित्रों में अंकित किये हैं जो देखने वालों को मोहित कर लेते हैं और चित्र उन्होंने अपनी जादूभरी कलम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उनका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत के एक जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सरशार की रुचि ऐन्द्रजालिक अभिव्यक्ति में है जिसे प्रेमचन्द ने पाठक के नाते सराहा भले ही हो लेकिन लेखक के नाते स्वीकार्य या अनुकरणीय नहीं समझा। यह प्रेमचन्द के समग्र साहित्य से स्पष्ट होता है। प्रेमचन्द ने सरशार के ठीक विपरीत जीवन की कठोर वास्तविकताओं को वाणी दी। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द पर सरशार का वैचारिक प्रभाव नहीं है। हाँ, उन्होंने सरशार की भाषा और शैली को एक हद तक अनुकरणीय माना। एक हद तक इसलिये कि प्रेमचन्द का जो विषय है उसे देखते हुए सरशार वाली शैली बहुत उपयोगी नहीं है।

सरशार की विशेषता पर विचार करते हुए डा० बाबूराम सक्सेना ने लिखा है—"सरशार जब पुजारी, उपदेशक, नीतिवादी, जातिवादी और पुराने रईसों से मिलते हैं और उनकी उपदेशभरी बातें, ऊँचे-ऊँचे ख्याल और आलोचनात्मक विचार सुनते हैं तो न उनसे तर्क करते हैं, न उनसे लड़ते हैं। वह महज उनका मजाक उड़ाते हैं।" सरशार की इन जैसी अन्य छिटपुट विशेषताओं ने ही प्रेमचन्द को प्रभावित किया। उनके उपन्यासों में भी जगह-जगह पर पुजारियों, उपदेशकों

---

(१) प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार।

और नीतिवादियों और रईसों का खुलकर मजाक उड़ाया गया है ।[1]

प्रेमचन्द के कथोपकथनों पर सरशार का स्पष्ट प्रभाव माना गया है। विभिन्न पात्रों के मुख से भाषा के विभिन्न रूप सरशार भी दिखलाते हैं और प्रेमचन्द भी। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीमन्मथनाथगुप्त ने लिखा है—"यों तो भाषा उन्होंने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी और उर्दू के सब लेखकों से ली किन्तु कराई हुई बातचीत में विशेषकर 'फिसाना-ए-आजाद' के लेखक का प्रभाव ज्ञात होता है।" यह बात बहुत दूर तक सही है ।

मिर्जा रुसवा—रुसवा उर्दू साहित्य में मौलाना शरर के विलोम हैं। श्री मन्मथनाथगुप्त ने उन पर विचार करते हुए लिखा है—"शरर ने उपन्यास को लेकर अरब और न मालूम कहाँ-कहाँ की सैर कराई किन्तु रुसवा ने फिर उपन्यास कला को वास्तविक जीवन में उतार लिया और उनमें इस युग के समाज का प्रतिफलन होने लगा।" रुसवा की इस विशेषता ने प्रेमचन्द को आकृष्ट किया। सरशार और शरर की भाँति रुसवा को प्रेमचन्द ने भाषा और शैली के कारण नहीं वरन दृष्टिकोण के कारण पसन्द किया। रुसवा के कथानकों का क्षेत्र उसका जाना पहचाना है। वर्णित घटनाएँ अधिकतर दैनन्दिन जीवन की हैं और उनमें विविधता और स्वाभाविकता है। इन सबका प्रेमचन्द ने अनुमोदन किया ।

रुसवा के सम्बन्ध में आलोचकों ने लिखा है कि उसको मनोविज्ञान में बड़ी दिलचस्पी थी । उसके उपन्यासों में नवाबों से लेकर रंडियों तक के जीवन का और मुशायरों से लेकर मेले-ठेले तक का वर्णन है । प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की ओर भी रुझान है ।[2] कथा की पटभूमि के इस विस्तार को प्रेमचन्द ने

---

(१) प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास 'असरारे मआबिद' की ये पंक्तियां लीजिये—"यह जो आप महंतजी के मत्थे पर लाल निशान देख रहे हैं यह चन्दन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हजरत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है ।" —मंगलाचरण : पृ० ५

(२) प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार : पृ० ८२ ।

पसन्द किया ।[1]

प्रेमचन्द के 'सेवासदन' पर रुसवा की उमराव जान अदा का स्पष्ट प्रभाव माना गया है । डा० राजेश्वर गुरु ने लिखा है—"वेश्या जीवन पर लिखे रुसवा के उपन्यास ने प्रेमचन्द के 'सेवासदन' के लिये शायद बीजाकुंर का काम किया हो ।"

इन लेखकों के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने उर्दू लेखकों से जो प्रभाव ग्रहण किया वह भिन्न-भिन्न ढंग से, किसी की भाषा और शैली से प्रभावित हुए तो किसी के दृष्टिकोण से । इस क्रम में कुछ अन्य उर्दू लेखकों नजीर अहमद और मौलाना मुहम्मद हसन आजाद आदि के नाम भी लिये जाते हैं । प्रेमचन्द पर इन सबका प्रभाव छिटफुट रूप में ही देखा जा सकता है ।

---

(१) प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में भी ऐसे कितने ही स्थल हैं । उदाहरण के लिये 'असरारे मआबिद' के कुछ चित्र लीजिये । —कुछ डंडपेल लड़न्तिये जवान लँगोट कस-कस के तालाब में धमाधम कूद रहे थे । तैराक लोग अपने-अपने करतब दिखा रहे थे । जो लोग डुबकी लगाने की कला में माहिर थे वे लोग डुबकियाँ लगा-लगाकर लोगों से तलब कर रहे थे । कहीं अखाड़े में कुश्ती हो रही थी । पहलवान लोग अपने दाँव-पेंच लगाकर जोर आजमाई कर रहे थे । तमाशाइयों की भीड़ थी । ठठ के ठठ लोग जमा थे ।"

—मंगलाचरण : पृ० ४१-४२

औरतों की एक टोली चली जा रही है । तमाम औरतें कपड़े-लत्ते से लैस हैं, नाक-चोटी से दुरुस्त, जेवरों से गोंडनी की तरह लदी हुई, मारे जेवरों के जिस्म पर तिल धरने की जगह नहीं । आज वह कीमती जोड़े निकाले गये हैं जो घराऊँ कहलाते हैं और जो शादी-ब्याह के वक्त बड़े ठाठ से पहने जाते हैं । उसमें हरेक बेजोड़ है, कोई छाँटने काबिल नहीं । कस्तूरी में बसी हुई चोटियाँ, जो स्नान करने के बाद कंधों पर बिखेर दी गई हैं, उनकी सुन्दरता को और भी बढ़ाती हैं । हरेक स्त्री के सुन्दर और सुकुमार हाथों में एक बहुत अच्छा पीतल का कमंडल लटक रहा है जिसमें पूजा का सामान है । —मंगलाचरण : पृ० १८

हिन्दी लेखकों का प्रभाव

प्रेमचन्द उर्दू त्याग कर हिन्दी में आये क्योंकि यह उन्हें अपने ज्यादा अनुकूल लगी। उर्दू में रहकर वे बेहतरीन किस्सागो और शैलीकार हो सकते थे, रंगारंग अफसाने लिख सकते थे लेकिन जीवन के यथार्थ को तीव्रता और गम्भीरता से व्यक्त करना आसान न था। उर्दू भाषा की चंचल प्रकृति इसके लिये उपयुक्त न थी। फिर उन्होंने हिन्दी के माध्यम से अधिकाधिक पाठकों तक पहुँचना था।

भारतेन्दु युगीन लेखकों का प्रभाव—हिन्दी में आकर जब प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य पर दृक्पात किया तो उन्हें दो बातें दिखाई पड़ीं। एक ओर तो भारतेन्दु युगीन लेखक थे जिनका समाज-बोध बड़ा तीव्र और नुकीला था। इन्होंने अपने समय के यथार्थ को ठीक-ठीक समझा था और उससे शक्तिभर जूझने की चेष्टा की थी। इनकी दायित्वपरायणता और ईमानदारी से प्रेमचन्द प्रभावित हुए। डा० रामविलास शर्मा ने लिखा भी है—"प्रेमचन्द की रचनाएँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास के कथा-साहित्य का अगला और स्वाभाविक कदम थीं।" इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु युगीन लेखकों ने प्रेमचन्द को समवेत रूप से प्रभावित किया था। पर प्रेमचन्द को इनमें एक त्रुटि भी दीखी होगी—यहाँ शरर, सरशार और रुसवा की तरह कोई अच्छा शैलीकार नहीं था।

द्विवेदी युगीन लेखकों का प्रभाव

भारतेन्दु युग से विकास करते-करते द्विवेदी युग तक हिन्दी का कथा-साहित्य अपना एक रूप स्थिर कर चुका था। उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह भारतेन्दु युगीन लेखकों के बताये हुए पथ पर अधिक सतर्कता और कौशल से आगे बढ़ेगा और जीवन की नयी-नयी जटिलताओं को वाणी देगा। लेकिन द्विवेदी युग के प्रमुख लेखकों ने इस बात की ओर उतना ध्यान नहीं दिया। और ऐय्यारी और तिलस्म में उलझे रहे। प्रेमचन्द को यह पसन्द नहीं था। उन्होंने जहाँ भी पूर्ववर्ती हिंदी-कथा-साहित्य का उल्लेख किया है वहाँ भारतेन्दु युगीन कथा-साहित्य के सम्बन्ध में अधिकतर मौन रहे हैं जिसका तात्पर्य हम यह लेते हैं कि

प्रेमचन्द को भारतेन्दु युगीन कथा-साहित्य में शैलीगत कोई उल्लेख्य विशेषता भले ही नहीं मिली होगी लेकिन उसके वस्तु-तत्त्व और विचार-कोणों से उनका विरोध नहीं था। इसलिये वे अधिकतर चुप रहे। लेकिन इसके विपरीत द्विवेदी-युग के प्रमुख लेखकों को उन्होंने शैलीकार के नाते अधिक विशिष्ट पाया लेकिन उनके वस्तु-तत्त्व और विचार-कोणों से उनका पर्याप्त मतभेद था। इसलिये जहाँ भी अवसर आया है वहाँ उन्होंने द्विवेदी युगीन लेखकों—विशेषकर देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी की इस बात के लिये आलोचना की है कि उन्होंने जीवन के यथार्थ से दूर हटने की चेष्टा की।

देवकीनन्दन खत्री—खत्रीजी अपने युग के शीर्षस्थ कथाकार हैं, इसमें सन्देह नहीं। कई वर्षों तक ये अपने युग पर छाये रहे। पाठकों के एक बहुत बड़े समुदाय को इन्होंने मोहित कर रखा और वे इनकी विषय-वस्तु और शैली के पीछे दीवाने रहे। इनकी इस लोकप्रियता से प्रेमचन्द अप्रभावित नहीं थे। खत्रीजी के उपन्यासों की विषय-वस्तु से प्रेमचन्द का मतभेद भले ही हो लेकिन उनका जो कथा कहने का ढंग था, कौतूहल बनाये रखने की जो क्षमता थी, अनेकानेक सूत्रों को एक साथ लेकर बिना उलझाये हुए चलने का जो कौशल था, भाषा की जो सरलता और रवानी थी वह किसी भी लेखक के लिये अनुकरणीय हो सकती थी। भाषा और शैली सम्बन्धी इस दृष्टिकोण और किस्सागोई से प्रेमचन्द भी प्रभावित हुए।

खत्रीजी पर विचार करते हुए श्री विश्वम्भर 'मानव' ने लिखा है—"खत्री जी की गणना नैतिकता के बहुत बड़े समर्थकों और पोषकों में होनी चाहिये। उनके उपन्यासों में अश्लीलता कहीं नहीं पायी जाती। उनके राजकुमार और राजकुमारियाँ विलास की पुतली नहीं, सर्वगुण सम्पन्न, आचारनिष्ठ और चरित्रवान प्राणी हैं। इनकी इस प्रवृत्ति की प्रशंसा इसलिये भी करनी पड़ती है कि कथानकों के ढाँचों को देखते हुए अश्लीलता के समावेश की उनमें पूरी गुंजाइश थी। ऐय्यारों में स्त्रियाँ भी हैं और वे दूसरे पक्ष द्वारा पकड़ी भी जाती हैं। कर्म की भूमि प्रायः निर्जन स्थान, खंडहर, सुनसान, चक्करदार मकान, गुफाएँ, तिलस्म के भीतरी गुप्त मार्ग आदि हैं; पर खत्रीजी के उपन्यासों में एक भी स्थान ऐसा

नहीं है जहाँ पाठक का मन खराब होता हो।"[1]

खत्रीजी के इस नैतिकता प्रधान दृष्टिकोण का उल्लेख इसलिये आवश्यक हुआ कि उनके समकालीन श्री किशोरीलाल गोस्वामी इस दृष्टिकोण का निर्वाह नहीं कर पाये हैं जबकि कुछ आलोचक जैसे डॉ० रामरतन भटनागर आदि ऐसा मानते हैं कि प्रेमचन्द पर खत्रीजी की अपेक्षा किशोरीलाल गोस्वामी का प्रभाव ही अधिक है।

किशोरीलाल गोस्वामी—डा० रामरतन भटनागर ने देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी पर विचार करते हुए लिखा है—"देवकीनन्दन तो अपने उपन्यासों में एक बीते हुए युग, बल्कि मृत-प्राय शैली का अनुसरण कर रहे थे। नवीन युग में उनका कोई स्थान नहीं था। अपनी रीतिबद्धता तथा एक हद तक गतानुगतिकता के बावजूद हम देखेंगे कि किशोरीलाल ही हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रत्यक्ष साहित्यिक पूर्वज कहे जा सकते हैं न कि कोई अन्य लेखक।" यहाँ हम देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी पर विचार न करके सिर्फ यह देखने की चेष्टा करेंगे कि डा० भटनागर ने जो यह माना है कि प्रेमचन्द प्रत्यक्ष रूप से गोस्वामी से प्रभावित थे वह कहाँ तक सही है।

किशोरीलाल गोस्वामी देवकीनन्दन खत्री की तरह ही अपने युग के महत्त्वपूर्ण लेखक थे, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक और तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों का प्रणयन कर अच्छी रचना शक्ति का परिचय दिया। उनकी कृतियाँ भी संख्या में अधिक हैं और उनका क्षेत्र भी विविध है। इससे सिद्ध है कि उनका अनुभव ज्ञान बढ़ा-चढ़ा था। गोस्वामीजी का भाषा पर भी अधिकार था और वे चरित्रों को विकसित करने का ढंग भी जानते थे। लेकिन इतना होते हुए भी उनमें वे विशेषताएँ—जैसे सामाजिक दायित्व बोध या यथार्थ के प्रति आग्रह—नहीं थीं जिसे प्रेमचन्द पसन्द करते थे। अतः जिस प्रकार खत्रीजी के उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व प्रेमचन्द की दृष्टि में असंगत थे उसी प्रकार गोस्वामी के उपन्यास भी उनकी दृष्टि में वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से महत्त्वहीन थे।

---

(१) प्रेमचन्द : ले० विश्वम्भर 'मानव'।

गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों की रचना तो की लेकिन तिलस्मी और ऐय्यारी के प्रभावों से वे मुक्त नहीं थे। उनका मानसिक गठन भी बीते हुए युग और मृत-प्राय शैली का अनुसरण करने वाला था। यह बात उनके उपन्यास 'लखनऊ की कब्र' और 'शोषित तर्पण' से स्पष्ट है। जहाँ उन्होंने सामाजिक उपन्यासों की रचना की है वहाँ भी ज्वलंत सामाजिक समस्याओं को नहीं छुआ है, सिर्फ कथानक का ढाँचा भर सामाजिक है। ऐसे सामाजिक उपन्यासों में प्रेम-प्रसंगों का टोटा नहीं है। जहाँ भी अवसर आया है सौन्दर्य का खूब चटकीला और खुला वर्णन किया गया है। इसका पाठकों के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से गोस्वामीजी खत्रीजी से अच्छे नहीं कहे जा सकते।

गोस्वामीजी के उपन्यासों को पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो वे रीतिकालीन कवियों से प्रभावित हों। ऐसे कवियों की प्रेमचन्द ने आलोचना की है। रीति कवियों के अतिरिक्त गोस्वामीजी पर संस्कृत के रोमांटिक साहित्य का भी प्रभाव है। ये बातें 'कुसुम कुमारी', 'तारा', 'अंगूठी का नगीना' आदि उपन्यासों के पारायण से स्पष्ट होती हैं। इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी विषय को लेकर प्रेमचन्द के ठीक विपरीत सिरे पर हैं। इस स्थिति में उनका प्रेमचन्द पर अप्रत्यक्ष और क्षीण प्रभाव ही सिद्ध किया जा सकता है। जिन समस्याओं को प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में उठाने वाले थे उनको सहज और सम्भव बनाने के लिये गोस्वामीजी ने सामाजिक उपन्यासों का ढाँचा खड़ा करना शुरू किया था—बस इतना ही।

डा० राजेश्वर गुरू ने 'कुसुम कुमारी' के कथानक के साथ 'सेवासदन' के कथानक की तुलना की है और दोनों में अद्‌भुत साम्य दिखलाया है। वे लिखते हैं—" 'कुसुम कुमारी' के कथा-सार में कुसुम की जगह सुमन, गुलाब की जगह शान्ता और वसन्त की जगह सदन रखकर बढ़ें तो एकदम 'सेवासदन' का कथा-सार जान पड़ेगा।" इस पर वे लिखते हैं—"क्या सम्भव नहीं कि 'सेवासदन' की कथा-प्रेरणा प्रेमचन्द को 'कुसुम कुमारी' से और उसकी मूल समस्या की प्रेरणा

रुसवा के 'उमराव जान अदा' से मिली हो ?"[१] डा० गुरू के इस निष्कर्ष से इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि प्रेमचन्द पर गोस्वामीजी का बड़ा क्षीण प्रभाव है—वह प्रभाव कथा-साम्य तक ही सीमित है। इन ऊपरी समानताओं के आधार पर किसी पर किसी का प्रभाव ढूँढ़ना बड़ा सरल कार्य है। इस सम्बन्ध में मेरी स्पष्ट धारणा है कि वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से प्रेमचन्द खत्री से जितने दूर हैं गोस्वामीजी से भी उतने ही दूर हैं। छिटपुट प्रभावों को छोड़कर इन दोनों की अवास्तविक कल्पना से प्रेमचन्द ने बचने की चेष्टा की है।

बंगला लेखकों का प्रभाव

प्रेमचन्द के समय तक उर्दू और हिन्दी के अतिरिक्त बंगला भी कथा-साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। यदि यह सत्य है कि आधुनिक कथा-साहित्य अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क में आकर विकसित हुआ तो सबसे पहले यह सुयोग बंगला को ही मिला। बंगला की इस विशेषता की ओर शीघ्र ही लोगों की दृष्टि गई और हिन्दी में तो उसके अनुवाद भी होने लगे। प्रेमचन्द की रुचि बंगला साहित्य में अधिक नहीं थी लेकिन अनुवाद के माध्यम से उसके लेखकों की जो विशेषताएँ लक्षित हुईं, समसामयिक होने के नाते प्रेमचन्द पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में हम कुछ प्रमुख बंगला लेखकों के साथ प्रेमचन्द को रखकर देखेंगे।

बंकिमचन्द्र—बंगला साहित्य में बंकिमचन्द्र सबसे पहले लेखक हैं जिन्होंने राष्ट्रीय दृष्टिकोण लेकर ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। उनका 'आनन्द मठ' इस दृष्टि से प्रसिद्ध है। प्रेमचन्द बंकिमचन्द्र की रचनाओं से अपरिचित नहीं थे। 'वरदान' की आलोचना करते हुए श्री हंसराज 'रहबर' ने उन पर बंकिमचन्द्र की शैली का प्रभाव बताया है। लेकिन मेरी दृष्टि में बंकिमचन्द्र ने प्रेमचन्द को राष्ट्रीय दृष्टिकोण के चलते प्रभावित किया होगा और वह भी नकारात्मक ढंग से।

---

(१) **प्रेमचन्द : एक अध्ययन।**

डा० रामरतन भटनागर ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन' में 'प्रेमाश्रम' पर विचार करते हुए लिखा है कि वह भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार' में इस कथन का खंडन किया है और बंकिमचन्द्र के 'आनन्द मठ' को भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास माना है; यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया है कि बंकिम-साहित्य में मुसलमानों का चित्र हिन्दुओं के मुकाबले में निकृष्ट दिखलाया गया है और बंकिम के सामने हिन्दू-मुस्लिम एकता का कोई प्रश्न नहीं था। इसके विपरीत प्रेमचन्द अपने विराट् साहित्य में एकाध अपवाद के अतिरिक्त प्रत्येक अवसर पर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल उपासक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने बंकिमचन्द्र के राष्ट्रीय दृष्टिकोण से असहमत होते हुए अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण का निर्माण किया होगा। यही प्रेमचन्द पर बंकिमचन्द्र का नकारात्मक प्रभाव है।

रवीन्द्रनाथ—बंकिमचन्द्र के बाद रवीन्द्रनाथ बंगला के दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं जिनकी रचनाएँ अनूदित होकर हिन्दीवालों के सामने आईं। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ कवि के रूप में हिन्दी में बहुत बाद में चलकर स्वीकृत हुए—नोबल पुरस्कार मिलने के बाद। पहले उन्हें कथाकार के रूप में ही लोगों ने जाना और उनकी कुछ विशेषताओं को पसन्द किया। प्रेमचंद पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव है, इसका उल्लेख रहबर ने 'वरदान' की आलोचना करते हुए किया है। स्वयं प्रेमचन्द ने भी स्वीकार किया है कि गल्प लिखने की प्रेरणा उन्होंने रवीन्द्रनाथ से प्राप्त की।

रवीन्द्र और प्रेमचन्द में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है। एक की रचना में जहाँ आभिजात्य का स्पर्श है वहाँ दूसरे की रचना में सर्वहारा वर्ग के जीवन को उभारने की चेष्टा है। केवल राष्ट्रीयता को लेकर दोनों में थोड़ा सा साम्य है। इस सम्बन्ध में मन्मथनाथ गुप्त का कथन ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है—"रवीन्द्रनाथ के नाटक 'अचला पतन', 'रक्तकरवी' तथा उपन्यास 'घरे बाहरे', 'गोरा' और 'चार अध्याय' को समसामयिक राजनीतिक आन्दोलनों के साथ संयुक्त किया जा सकता है।" यहीं श्री गुप्त यह भी स्वीकार करते हैं कि

इन कृतियों की राजनीति व्यावहारिक राजनीति से बहुत दूर है। प्रेमचन्द इसके ठीक विपरीत उस युग की व्यावहारिक राजनीति के विभिन्न पहलुओं को विस्तार से चित्रित किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव विषयगत न होकर शैली और कथा कहने के ढंग को लेकर है, और वह भी काफी नगण्य है।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि बंगला लेखकों और प्रेमचन्द में मूलभूत अन्तर है। एक की प्रवृत्ति जहाँ भावुकतामूलक है वहाँ दूसरा यथार्थ-मूलक दृष्टिकोण को लेकर चलता है। दृष्टिकोण का यह विरोध ही सूचित करता है कि प्रभावित करने और प्रभावित होने की गुंजाइश कम है।

शरतचन्द्र—प्रेमचन्द पर विचार करते हुए प्रायः ही शरतचन्द्र का उल्लेख किया जाता है। ये दोनों भारत के ही नहीं, एशिया के दो बड़े कथाकार हैं। प्रेमचन्द शरत के लेखन और लोकप्रियता से अप्रभावित रहे हों, ऐसी बात नहीं। लेकिन प्रभावित भी ठीक उस अर्थ में नहीं हुए जिस अर्थ में सरशार से या रुसवा से या रवीन्द्रनाथ से। शरत और प्रेमचन्द प्रायः एक दूसरे के समकक्ष हैं। यदि प्रेमचन्द कुछ बातों में शरत से आगे हैं तो शरत भी कुछ बातों को लेकर प्रेमचन्द से बीस सिद्ध होते हैं। प्रेमचन्द ने शरत के साहित्य को ध्यान से देखा और जीवन का जो पहलू उनसे अछूता रह गया उसे व्यक्त करना अपना दायित्व समझा।

बंगला-साहित्य पर जैनेन्द्र से बातें करते हुए एक जगह प्रेमचन्द ने कहा है—"उस साहित्य में स्त्रैण भावना काफी है।" शरत के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द की यही धारण रही होगी। बंगला-साहित्य पर बातें करते हुए प्रेमचन्द ने आगे कहा है—"वह जगह-जगह स्मरणशील हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है। संकल्प में भावना का काठिन्य होता है।" इस काठिन्य का प्रेमचन्द बंगला-साहित्य में—विशेषकर रवीन्द्र और शरत में अभाव पाते हैं। उन्होंने अपने साहित्य में संकल्प के इसी काठिन्य को दिखलाने की चेष्टा की है। इस तरह हम कह सकते हैं कि यदि प्रेमचन्द पर शरत का प्रभाव ही ढूंढ़ना हो तो वह नकारात्मक (Negative) है। प्रेमचन्द ने प्रसंगवश जैनेन्द्र

से कहा भी था—"रवीन्द्र और शरत दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिये क्या वही रास्ता है ? शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, मेरे लिये तो वह राह नहीं ही है।" यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि प्रभाव से जो अर्थ लिया जाता है वैसा प्रभाव बंगाली लेखकों का प्रेमचन्द पर नहीं था।

विदेशी लेखकों का प्रभाव

तालस्ताय—जिस युग में प्रेमचन्द ने लिखना प्रारम्भ किया वह युग विचारक और कलाकार तालस्ताय की महत्ता से परिचित हो चुका था। महात्मा गांधी जैसे राजनीतिज्ञ उनसे प्रभावित हो चुके थे। तालस्ताय कई बातों के कारण उस समय के भारतीय विचारकों का ध्यान आकर्षित करते थे। पहली बात तो यह है कि उनमें पाश्चात्य भावों की अपेक्षा पौर्वात्य तत्त्वों (Orientalism) की प्रधानता थी। इस बात को लेकर उनकी तुलना फ्रांसीसी विचारक और कलाकार रोम्या रोलाँ से की जा सकती है। दूसरी बात यह कि तालस्ताय में धर्म-बोध भी था और स्वप्निक समाजवाद के तत्त्व भी थे। इसी कारण गांधीजी ने उन्हें अपने अनुकूल पाया था। लेकिन प्रेमचन्द पर तालस्ताय का प्रभाव इसी वजह से था, हम ऐसा नहीं कह सकते।

तालस्ताय ने प्रेमचन्द को एक लेखक के नाते अधिक प्रभावित किया, विचारक के रूप में कम। अक्सर प्रेमचन्द और तालस्ताय की तुलना की गई है और दोनों में कुछ मूलभूत समानताएँ दिखाई गई हैं। सोवियत समालोचक वी० एस० बैस्कोवनी ने लिखा है—"दोनों ने ही गरीबों के लिये लिखा, दोनों ने ही समाज के वास्तविक रूप को देखा, दोनों ने ही जीवन के सत्य की खोज में प्राणपण से चेष्टा की एवं दोनों में एक तरह के भाव-विकार मिलते हैं जैसे कि गलत उपायों द्वारा और कोरी कल्पना के सहारे समाज-सुधार की अवास्तविक परिकल्पना करना।"[1]

लेनिन ने भी ठीक इसी से मिलती-जुलती बात तालस्ताय के बारे में कही

---

(१) **प्रेमचन्द और गोर्की।**

है। उनका कथन है—"तालस्ताय में एक स्वस्थ विद्वेष की भावना दिखाई पड़ती है। साथ ही उन्नत अवस्था के लिये एकाग्र आकांक्षा भी। पुरानी बुराइयों से मुक्ति पाने की उनमें प्रबल आकांक्षा तो थी पर एकाग्रमन और अलीक कल्पना देकर उन्होंने स्वप्न सौध की रचना की।" यही बातें प्रेमचन्द के संबंध में भी कही जा सकती हैं। लेकिन तालस्ताय और प्रेमचन्द में अन्तर भी है। बैस्कोवनी ने दोनों के विभेदों पर विचार करते हुए लिखा है—"उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में रूस की वास्तविक स्थिति और बीसवीं शताब्दी के प्रथम महायुद्ध के बाद औपनिवेशिक भारत की स्थिति बिल्कुल एक-सी न थी। इन्हीं कारणों से प्रेमचन्द और तालस्ताय में पूरी तरह साम्य होना भी सम्भव न था।" देश, काल और परिस्थिति के प्रति तालस्ताय और प्रेमचन्द दोनों ही सच्चे थे इसलिये दोनों में यह अन्तर है।

प्रेमचन्द अपने युग के एक जागरूक लेखक थे और देश-काल की परिस्थितियों को खुली आँखों से देखते थे। समाज की सच्चाइयों को समझने और चित्रित करने के क्रम में जो भी लेखक उनके समीप पड़ते थे उनसे वह कुछ न कुछ सीखने की चेष्टा करते थे लेकिन फिर भी अपनी मौलिकता अक्षुण्ण रखते थे। उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखने के कारण सोवियत आलोचक को कहना पड़ा है—"प्रेमचन्द के ऊपर तालस्ताय का यथेष्ट प्रभाव है फिर भी उनके सामाजिक विचारों के लिये तालस्ताय ही पूर्ण जिम्मेदार नहीं हैं।"

गोर्की—प्रेमचन्द और गोर्की समकालीन थे। दोनों में कई बातों की समानता है। दोनों ही सर्वहारा वर्ग का पक्ष लेकर संघर्ष करने वाले लेखक थे। प्रेमचन्द गोर्की के जीवन और कृतित्व से प्रभावित थे, यह शिवरानी देवी की पुस्तक के उस विवरण से स्पष्ट होता है जिसमें उन्होंने लिखा है—"गोर्की का कोई समकक्ष उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते तब-तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द-सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी।"

गोर्की-साहित्य और प्रेमचन्द-साहित्य में बहुत दूर तक समानता है। श्रीमती

शचीरानी गुर्टू ने ठीक ही कहा है कि "प्रेमचन्द और गोर्की इन दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही है—मानव-जीवन का उत्थान और अपने हमवतन भाइयों का हितचिन्तन। मानसिक स्वातन्त्र्य और सामान्य जीवन को एक विशेष स्तर पर लाने के लिए संस्कारहीनता को हटाया जाय, विसंगतियाँ दूर की जायं और ढकोसलों की ताड़ना कर असहनीय, अवास्तविक स्थितियों से मुक्ति पाने का प्रयास किया जाय।...दोनों ही यथार्थवादी कलाकार हैं। दोनों में सहानुभूति, पैनी अन्तर्दृष्टि, विलक्षण प्रतिभा और चित्रण-शक्ति है।"

प्रेमचन्द और गोर्की में समानता तो है ही लेकिन दोनों में अन्तर भी है। इसका कारण यह है कि दोनों ही वस्तुवादी लेखक थे इसलिये अपने देशकाल के यथार्थ के प्रति ईमानदार थे। इसलिये दोनों का लक्ष्य एक होने पर भी अन्तर स्वाभाविक है। 'माँ' और 'गोदान' में साम्य भी है और अन्तर भी। "साम्य इस रूप में कि दोनों उपन्यासों की केन्द्रिय आत्मा एक है, उनमें एक-सी प्रतिध्वनि गूंज रही है। अन्तर इस अर्थ में कि 'माँ' में बाधाओं को कुचलकर अग्रसर होने की ललकार है, पर 'गोदान' में अवसन्न करने वाली मूक यातना है जो तिल-तिल गलाकर मारती है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द का यथार्थ बोध अपने ढंग का था। रूस की परिस्थितियों ने गोर्की को क्रांतिकारी होने की सुविधा दी थी जब कि ऐसी कोई सुविधा प्रेमचन्द के युग में सहज न थी।

डिकेन्स—चार्ल्स डिकेन्स इंगलैंड की १९वीं शताब्दी के महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उन्होंने समाज के कटु यथार्थ को अपने उपन्यासों में सफलतापूर्वक चित्रित किया है। उनपर विचार करते हुए कहा गया है—"He devoted himself to the novel of social conditions with a reforming purpose. Half the novelty consisted in the field of his observation. And this owed its extent and freshness to his own experience. His youth had been passed and had brought him into contact with the working and lower middle classes. He had been familiar with the most humble surroundings and the most wretched districts and he made them his frequent subject. A

new and vivid realism enters into his picture."[1]

उपर्युक्त विशेषताओं को लेकर प्रेमचन्द और डिकेन्स में समानता दिखाई जा सकती है। लेकिन दोनों में जो सबसे बड़ा अन्तर है वह यह कि डिकेन्स केवल वास्तविकता के चित्रण के पीछे पड़े रहते हैं जब कि प्रेमचन्द वास्तविकता को उचित ढंग से चित्रित करते हुए, उसकी जटिलता से जूझते हुए उसे एक आकार देना चाहते हैं। ये दो बातें इन दोनों को दो खेमों में डालती हैं जिसका निर्धारण राल्फ फाक्स ने किया है। डिकेन्स पर विचार करते हुए मन्मथनाथ गुप्त ने ठीक ही लिखा है कि वे अपने युग के ध्वजवाहक नहीं थे; अपने युग के थे किन्तु अपने युग पर अपना सिक्का नहीं जमा पाये। ठीक इसके विपरीत प्रेमचन्द हैं जो अपने युग के ध्वजवाहक हैं, जिन्होंने अपने युग पर अपना सिक्का जमाया है।

थैकरे—प्रेमचन्द पर थैकरे का प्रभाव भी बताया गया है। अवध उपाध्याय ने 'रंगभूमि' को 'वैनिटी फेयर' का अनुकरण कहा था। लेकिन अब यह बात गलत सिद्ध हो चुकी है। 'रंगभूमि' की जड़ कहीं अन्यत्र न होकर इसी देश के यथार्थ में है। कुछ पात्रों को खींचतान कर अन्य लेखक के पात्रों से मिला लेना और इस प्रकार कोई निष्कर्ष दे देना सरल है, पर यह कोई सही तरीका नहीं है। थैकरे और प्रेमचन्द के चरित्रों की गति में कुछ साम्य है जरूर। जिस प्रकार थैकरे मानते थे कि वे चरित्रों को नियंत्रित नहीं करते वरन् वे चरित्रों के हाथ में कठ-पुतली बन जाते हैं और वे जैसा चाहते हैं उन्हें चलाते हैं उसी प्रकार प्रेमचन्द भी जब पात्रों को गढ़ लेते हैं तो वे अपनी ही गति पकड़ते हैं। लेकिन इससे अधिक और कोई साम्य नहीं है।

डिकेन्स और थैकरे का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कहा गया है—"Dickens was magnificently successful in depicting the life of the people. He was ill acquainted with the upper classes. William Makepeace Thackeray on the other hand analysed with skill

---

(१) *An Introduction to English Literature by Mulgan & Davin.*

both the upper middle class and aristocratic society."[१] इससे थैकरे की विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। प्रेमचन्द थैकरे के ठीक विपरीत निम्न वर्ग और निम्न मध्य वर्ग को लेकर चलते हैं और इस दृष्टि से वे डिकेन्स के समीप पड़ते हैं लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं डिकेन्स और प्रेमचन्द में पर्याप्त अन्तर भी है।

थैकरे यह जानता भी नहीं था कि गरीबी क्या चीज है। डिकेन्स और उसके जीवन की तुलना करते हुए कहा गया है—"Dickens when he was poor knew the meaning of poverty but for Thackeray to be poor merely meant that for the time one relied on credit."[२] इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द और थैकरे के जीवन और साहित्य में पर्याप्त अन्तर था।

गाल्सवर्दी—प्रेमचन्द ने गाल्सवर्दी के तीन नाटकों 'सिलवर बाक्स', 'जस्टिस' और 'स्ट्राइक' का अनुवाद किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गाल्सवर्दी को पसन्द करते थे। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि गाल्सवर्दी उपन्यासकार भी था और उसके कई उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। लेकिन प्रेमचन्द ने उसके किसी उपन्यास का अनुवाद न कर नाटकों का अनुवाद किया। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने नाटककार गाल्सवर्दी को एकाधिक कारणों से उपन्यासकार गाल्सवर्दी से अच्छा समझा।[३] स्वयं प्रेमचन्द ने भी नाटक लिखने की चेष्टा की थी और उसमें असफल प्रमाणित हुए थे। सम्भव है इसी कारण नाटककार गाल्सवर्दी

---

(१) *An Introduction to English Literature by Mulgan & Davin.*

(२) *A Short History of English Literature by Ifor Evans.*

(३) समकालीन अंग्रेजी ड्रामा पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने गाल्सवर्दी के बारे में लिखा है—"गाल्सवर्दी उपन्यासकार और कवि होते हुए भी नाटककार के रूप में अधिक सफल हुआ है। उसके ड्रामों में समाजवाद के सिद्धान्तों का ऐसा कलापूर्ण उपयोग किया गया है कि सामाजिक विषमता का चित्र आँखों के सामने आ जाता है और पाठक उससे बिना असर लिये नहीं रह सकता।"

—साहित्य का उद्देश्य : पृ० १३७।

ने उन्हें आकर्षित किया हो। गाल्सवर्दी के नाटकों के वस्तु-तत्त्व पर विचार करते हुए कहा गया है—He uses the play to present some aspects of evil or injustice that born of law and prejudices. प्रेमचन्द ने वस्तुवादी कलाकार के नाते गाल्सवर्दी की इस प्रवृत्ति को समाज के लिये उपयोगी समझा था। लेकिन वस्तु-तत्त्व की अपेक्षा प्रेमचन्द पर गाल्सवर्दी की शैली का अधिक प्रभाव था। गाल्सवर्दी की नाट्य-कला पर विचार करते हुए कहा गया है—His dialogue is crisp and vigorous, his dramatic skill considerable and his sincerity sober. गाल्सवर्दी की इन-सी विशेषताओं ने प्रेमचन्द को प्रभावित किया क्योंकि वे चाहकर भी अपने नाटकों में इन गुणों का समावेश नहीं कर सके थे। इससे अधिक गाल्सवर्दी में प्रेमचन्द को और कुछ न मिला। गाल्सवर्दी के सम्बन्ध में मुलगन के शब्दों में यह जो कहा गया है कि "Sympathy for unfortunate is not backed by any deep comprehension of the social causes behind misfortune. The plays call for tenderness and mercy." यह स्पष्ट करता है कि प्रेमचन्द और गाल्सवर्दी में पर्याप्त अन्तर है।

अनातोले फ्रांस—प्रेमचन्द ने अनातोले फ्रांस के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'थायस' का 'अहंकार' नाम से अनुवाद किया है। इसलिये ऐसा सोचना असंगत नहीं है कि फ्रांस भी उनके प्रिय लेखकों में से थे। लेकिन यहाँ हमें स्मरण कर लेना होगा कि किसी लेखक को अनूदित करने का अर्थ उससे अनिवार्य रूप से प्रभावित होना नहीं है। यहाँ प्रभाव का अर्थ हम लेखन पर पड़नेवाला प्रभाव न लेकर साहित्यिक संस्कारों को प्रभावित करने वाले उपकरण लेंगे। फ्रांस में कुछ ऐसी बातें अवश्य थीं जो प्रेमचन्द के साहित्यिक संस्कारों के अनुकूल थीं। उन्होंने ही प्रेमचन्द को आकृष्ट किया। फ्रांस अधिकांश फ्रांसीसी उपन्यासकारों की भाँति प्रकृतवादी नहीं थे। यदि वे जोला और फ्लावेयर की भाँति प्रकृतवादी होते तो प्रेमचन्द के साहित्यिक संस्कारों से उसका मेल न खाता।

फ्रांस के बारे में ऐसा कहा गया है कि प्रकृतवादी उपन्यासकार उन्हें उपन्यासकार भी नहीं मानते थे। उनके उपन्यासों के बारे में कहा गया है—His books

are often cast in the form of a continuous narrative with fictitious character, but their setting may be in Greece, in medieval or eighteen century France, and they are neither 'documented' in the Goncourt sense of the word, nor have they what is generally meant by a plot. They are rather the comment on life of a moralist philosopher, sceptical to the point of cynicism as much concerned with beauty of form as with the expression of thought.'[1] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती प्रकृतवादी उपन्यासकारों की तुलना में फ्रांस की क्या विशेषताएँ थीं। प्रेमचन्द ने फ्रांस की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखा।

सामाजिक संस्थाओं और कार्यकर्त्ताओं का प्रभाव

आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द—अपनी कृतियों में 'गोदान' को छोड़कर प्रेमचन्द का दृष्टिकोण सुधार-मूलक रहा है। विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, दहेज-प्रथा का विरोध, दिखावे की भावना से मुक्ति, धार्मिक संकीर्णताओं का विरोध, अंग्रेजी शिक्षा की आलोचना, अन्तर्जातीय विवाह—ये कुछ मुख्य बातें हैं जो उनके उपन्यासों में पायी जाती हैं। इस आधार पर कुछ आलोचक प्रेमचन्द पर आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द का प्रभाव मानते हैं। लेकिन यह बात सही नहीं है। श्री मन्मथनाथ गुप्त ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार' में दिखलाया है कि प्रेमचन्द पर न तो आर्यसमाज का प्रभाव था और न स्वामी दयानन्द का। उन्होंने लिखा है—"चूंकि प्रेमचन्दजी ने बहुत सी कुरीतियों पर आक्रमण किया इसलिये उन्हें आर्यसमाज के प्रभाव में कहना कहाँ तक उचित होगा? सनातन धर्म की कुरीतियों पर हमला केवल आर्यसमाज की विशेषता नहीं। विगत शताब्दी के कई सम्प्रदायों ने, व्यक्तियों ने

---

(१) *A Short History of French Literature by Laurence Bissou : p. 135.*

तथा संस्थाओं ने इन कुरीतियों पर हमले किये।...हिन्दी-साहित्यिकों में भी राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, हरिश्चन्द्र आदि बहुत से लेखकों ने सनातन समाज पर १९वीं सदी में ही छिपा या खुला हमला किया था। इसलिये सनातन धर्म पर चोट करने से ही कोई अनिवार्य रूप से आर्य-समाज के प्रभाव में आकर ऐसा कर रहा है, ऐसा कहना उचित न होगा।...यदि कोई समालोचक किसी लेखक के सम्बन्ध में यह कहता है कि अमुक लेखक पर अमुक सम्प्रदाय का प्रभाव है तो उसे यह भी प्रमाणित करना पड़ेगा कि उस सम्प्रदाय में अपनाये हुए दृष्टिकोण से ही लेखक ने चीजों को चित्रित किया। विधवा-विवाह, दहेज के विरुद्ध विचार, ढोंग-ढकोसले के विरुद्ध बगावत, धर्म के सरलीकरण के लिये माँग—ये तो सब सम्प्रदायों की विशेषता थी। किन्तु आर्यसमाज की इस सम्बन्ध में जो विशेषता थी वह यह थी कि वेदों के नाम पर विभिन्न कुरीतियों के विरुद्ध जेहाद बोला गया।...प्रेमचन्द प्रचलित धर्म यहाँ तक कि ईश्वर और पुनर्जन्मवाद की आलोचना कर जाते हैं; क्या इसमें कुछ आर्यसमाजीपन है? हमें तो ऐसा नहीं मालूम देता है कि कोई भी आर्यसमाजी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में वे बातें कहना पसन्द करेगा जो प्रेमचन्दजी कह जाते हैं।...आर्यसमाज में ईश्वरवाद बहुत कट्टरता के साथ अपनाया गया है किन्तु हम तो प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में प्रत्येक जगह ईश्वरवाद के विरुद्ध एक जबरदस्त विद्रोह देखते हैं। यदि हम भूलते नहीं हैं तो प्रेमचन्द के सारे उपन्यास-साहित्य में न कहीं वेद की तारीफ की गई है और न स्वामी दयानन्द की।"[१]

(पृष्ठ ४७३-७५)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के साहित्य में आर्यसमाज का प्रभाव लक्षित नहीं होता। यों प्रेमचन्द ने बातचीत के क्रम में एकाध जगह आर्यसमाज

---

(१) आर्यसमाज और प्रेमचन्द के सम्बन्ध पर विचार करते हुए अमृतराय ने लिखा है—"आर्यसमाज में उनकी दिलचस्पी पूरी थी। जलसों में तो खैर जाते ही थे, शायद वह आर्यसमाज के बाजाब्ता सदस्य भी थे।"

—कलम का सिपाही : पृ० ४८।

और स्वामी दयानन्द का नाम लिया है और उनकी प्रशंसा की है। शिवरानी देवी से बातें करते हुए वे एक जगह कहते हैं—"मैं तो धन्यवाद देता हूँ दयानन्द को। उन्होंने आर्यसमाज का प्रचार करके स्त्रियों का और समाज का बड़ा उद्धार किया है।"[१] ऐसे उल्लेखों के बावजूद उनके लेखन पर आर्यसमाज या स्वामी दयानन्द का प्रभाव स्पष्ट नहीं होता।

राजनीतिक नेताओं और उनकी विचार-प्रणालियों का प्रभाव

गांधी और गांधीवाद—प्रेमचन्द पर गांधी के महान् व्यक्तित्व का प्रभाव है, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने शिवरानी देवीजी से गांधीजी के बारे में बातें करते हुए कहा है—"महात्माजी से मिलने के बाद कोई ऐसा नहीं होगा जो बगैर उनका हुए लौट आये। या तो वह सबके हैं या वह अपनी ओर सबको खींच लेते हैं। उनकी शक्ल-सूरत और बातों में इतना खिचाव है कि उन्हें जो भी देखता है उनकी तरफ ख्वामख्वाह खिंच जाता है। मैं कहता हूँ बुरे से बुरा आदमी भी जो उनके समीप जाय तो उनका ही होकर लौटेगा। महात्मा गांधी के समीप कोई कितना ही झूठा जाय मगर उनके सामने उसे सच बोलना ही पड़ेगा।" इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गांधीजी से प्रभावित थे। अब देखना यह है कि यह प्रभाव उनके लेखन पर कैसा और कहाँ तक है।

प्रेमचन्द गांधी युग के शीर्षस्थ कथाकार हैं। उन्होंने 'गोदान' को छोड़कर अपने सभी प्रमुख उपन्यासों में गांधीवादी आदर्शों की उपस्थापना की है। इस दृष्टि से 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन चारों उपन्यासों के नायक प्रेमशंकर, सूरदास, चक्रधर और अमरकान्त गांधीवाद के प्रतीक हैं। यदि इनके अतिरिक्त उनके अन्य सामाजिक उपन्यासों को लिया जाय जैसे 'सेवासदन' और 'प्रतिज्ञा' तो उनमें भी जो सुधारमूलक दृष्टिकोण अपनाया गया है उसका गांधीवादी रचनात्मकता से कोई स्पष्ट विरोध नहीं है। इसलिये हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रेमचन्द पर गांधी और गांधीवाद का निश्चित

---

(१) **प्रेमचन्द घर में : पृ० ९७।**

प्रभाव है। यह प्रभाव यदि नहीं होता तो यही अस्वाभाविक होता। प्रेमचन्द जिस युग में जिये उस युग के रग-रेशे पर गांधीवाद का निश्चित प्रभाव था। लेकिन जैसा कि प्रेमचन्द के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वे वस्तुवादी थे इस नाते गांधी और गांधीवाद तक ही सीमित नहीं रह सकते थे। गांधीवाद उनके समय की सच्चाई थी और इस रूप में वह उनके उपन्यासों में चित्रित है। लेकिन वहाँ उसकी सम्भावनाएँ और न्यूनताएँ दोनों ही खुले रूप में पाठकों के सामने हैं। इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द पर गांधीवादी प्रभाव तो है लेकिन उनकी दृष्टि आच्छन्न नहीं है। उनके उन उपन्यासों में भी, जिनमें गांधीवादी आदर्शों की उपस्थापना की गई है कुछ ऐसी बातें हैं जो गांधीवाद से मेल नहीं खाती हैं। प्रगतिशील आलोचकों ने ऐसे स्थल सतर्कता से ढूँढ़ निकाले हैं। इस दृष्टि से उनके कुछ आलोचकों का यह कथन कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांधी-वाद का समर्थन और विरोध दोनों हैं बिल्कुल ठीक है।

प्रेमचन्द अपने अंतिम उपन्यास 'गोदान' में आकर गांधीवादी प्रभावों से एकदम मुक्त हो जाते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि शत-प्रतिशत यथार्थमूलक हो जाती है। अब उनका समझौतों, आश्रम-निर्माण और हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं रह जाता। प्रेमचन्द की यह परिणति एकाएक नहीं हुई है। इसके बीज 'प्रेमा-श्रम' से लेकर 'कर्मभूमि' तक में हैं। 'प्रेमाश्रम' में मनोहर गौस खाँ की हत्या कर देता है। यदि प्रेमचन्दजी गांधीजी की अहिंसा के सच्चे समर्थक होते तो ऐसा नहीं दिखलाते। फिर 'कर्मभूमि' में गोरों को छुरा भोंक दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने गांधीवाद को अंशतः ही स्वीकार किया था।

गांधीजी राजनीतिज्ञ तो थे ही लेकिन धार्मिक प्रकृति के भी थे। उन्होंने कहीं भी नास्तिकता का परिचय नहीं दिया है, धर्म ईश्वर आदि की तीखी आलोचना नहीं की है, उनका मखौल नहीं उड़ाया है जब कि ये सब बातें प्रेमचन्द के साहित्य में पग-पग पर दृष्टिगोचर होती हैं। प्रेमचन्दजी हिन्दुओं और मुसल-मानों की एकता का प्रतिपादन करते हैं लेकिन इसके लिये राम और रहीम या वेद और कुरान का आश्रय नहीं लेते। अछूतोद्धार उनका भी लक्ष्य है लेकिन उन्हें हरिजन कहकर उनका शुद्धीकरण नहीं चाहते वरन् उन्हें मानवता के एक

अंश एवं समाज के सबल निम्नवर्ग के नाते स्वीकृत करना चाहते हैं। इन बातों पर विचार करने से यह सहज ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि वे गांधीवाद से प्रभावित होकर भी स्वतन्त्र विवेक से युक्त थे।

आदर्शवाद और यथार्थवाद—प्रेमचन्द पर आदर्शवाद का प्रभाव अधिक है या यथार्थवाद का?—इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में पर्याप्त मद-भेद है। कुछ तो उन्हें आदर्शवादी मानते हैं और कुछ यथार्थवादी। इनसे भिन्न आलोचकों का एक तीसरा समुदाय है जो उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी या यथार्थोन्मुख आदर्शवादी मानता है। हमें इन तीनों ही समुदाय के आलोचकों की विचारधारा समझनी होगी और देखना होगा कि वास्तविकता क्या है। पहले विवेचन की सुविधा के लिये हम प्रत्येक समूह में से एक या दो प्रतिनिधि आलोचक के मतों का उल्लेख कर लें।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' में लिखते हैं—"साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। वास्तव में प्रेमचन्दजी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं, आपका चरित्र निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है। कथोपकथन, भाषा की सामान्यता या पात्रानुरूपता, पात्रों की विनोदात्मक बातचीत आदि शैली सम्बन्धी विशेषताएँ यथार्थ को छूती हुई परिलक्षित होती हैं। परन्तु भाषा या शैली सम्बन्धी विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उसके जीवन-दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहना भी अस्पष्टता को ही बढ़ाना है। साहित्य में यथार्थवादी और आदर्शवादी रचना के दो अलग-अलग विभाग हैं। इन दोनों को मिलाने वाला कोई पृथक् वाद नहीं है। यह तर्क संगत भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि दो परस्पर विरोधी जीवन दर्शनों और कला परिपाटियों में एकत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है?"

इससे स्पष्ट है कि वाजपेयीजी प्रेमचन्द को विशुद्ध आदर्शवादी मानते हैं। अब यहाँ कोई 'गोदान' का उदाहरण देकर आपति कर सकता है इसलिये

उन्होंने स्पष्ट कर दिया है—"प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' के सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि उसे आदर्शवादी किस आधार पर कहें। 'गोदान' में समस्या के निर्णय का कोई प्रश्न नहीं है, दूसरे शब्दों में उसमें प्रेमचन्द की ध्येयवादिता प्रत्यक्ष होकर नहीं आई। परन्तु चरित्र निर्माण और कथानक के विकास क्रम में प्रेमचन्दजी भारतीय किसान के आदर्श स्वरूप को भूले नहीं हैं। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के होते हुए भी मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अन्ततः आदर्शवादी है।" इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वाजपेयीजी प्रेमचन्द को शुरू से आखीर तक आदर्शवादी ही मानते हैं।

इसी से मिलता-जुलता मत उन आलोचकों का है जो प्रेमचन्द को आदर्शवादी न कहकर गांधीवादी कहते हैं। प्रेमचन्द को यथार्थवादी या वस्तुवादी न मानकर गांधीवादी कहना स्पष्टतः उन्हें आदर्शवादी घोषित करना है। स्वयं गांधीवाद आदर्शवाद की आधारशिला पर टिका है और उसमें आदर्श की तुलना में यथार्थ का अनुपात बहुत कम है। श्री विश्म्भर मानव अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द' में लिखते हैं—"कुछ कम्युनिस्ट आलोचकों ने प्रेमचन्दजी के साहित्य को साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित दिखाकर उनके साथ बड़ा भारी अन्याय किया है। प्रेमचन्दजी मूलतः गांधीवादी लेखक थे।" यहाँ प्रेमचन्द को गांधीवादी कहकर उन्हें आदर्शवादी ही सिद्ध किया गया है।

अब हम उन विचारकों के मतों को लें जो प्रेमचन्द को यथार्थवादी मानते हैं। डा० रामविलास शर्मा प्रेमचन्द के बारे में लिखते हैं—"उनकी आंतरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी। इसका प्रमाण यह है कि अन्य आदर्शवादियों की भांत्ति उन्होंने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिये अपने आधार को नहीं तोड़ा मरोड़ा, उदाहरण के लिये यदि वे किसान और जमींदारों में वर्ग संघर्ष नहीं चाहते थे, वरन् सोचते थे कि उनमें समझौता हो जायगा तो इसलिये उन्होंने किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिखाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी पूर्ण भयानकता के साथ उन्होंने किया है। दूसरा आदर्शवादी लेखक अपना निश्चित परिणाम सिद्ध करने के लिये

यथार्थ के आधार को ही विकृत कर देता।" इससे स्पष्ट है कि डा० शर्मा प्रेमचन्द को मूलतः यथार्थवादी मानते हैं। प्रेमचन्द के साहित्य में प्रारम्भ से लेकर अंत तक कुछ ऐसी बातें अवश्य हैं जिनका सम्बन्ध आदर्शवाद से जोड़ा जा सकता है लेकिन वे बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि गहराई से जाँच करने के बाद वे यथार्थवादी ठहरते हैं।

मन्मथनाथ गुप्त ने भी अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार' की भूमिका में स्पष्ट किया है—"प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही वस्तुवादी थे और वस्तुवाद की बदौलत वे बढ़ते-बढ़ते इस नतीजे पर पहुँचे कि केवल आदर्शवादी विचारधारा से समाज को बदलना सम्भव नहीं है।" गोपालकृष्ण कौल ने भी कहा है कि प्रेमचन्द मूलतः यथार्थवादी कलाकार थे, किन्तु उन पर प्रभाव अपने युग के आदर्शवाद का था।

इन आलोचकों ने प्रेमचन्द के साहित्य में आदर्शवाद का प्रभाव स्वीकार किया है, उसकी झलक देखी है लेकिन यह कहीं नहीं कहा है कि उनमें आदर्श और यथार्थ का संतुलन है। ऐसे आलोचकों में से कुछ ने प्रेमचन्द के प्रारम्भिक साहित्य में आदर्शवाद का जो रूप पाया है उसकी परिणति भी कालान्तर में यथार्थवाद में हुई है। हंसराज रहबर ने लिखा है—"जैसे-जैसे उनका सामाजिक और राजनीतिक ज्ञान बढ़ता रहा उनके विचारों में प्रौढ़ता आती गई; वे आदर्शवादी से यथार्थवादी बनते गये।" (पृ० २१५) इससे स्पष्ट है कि ऐसे आलोचक प्रेमचन्द को यथार्थवादी ही मानते हैं।

ऐसे आलोचकों से भिन्न उन आलोचकों के मंतव्य हैं जो प्रेमचन्द को मूलतः समन्वयवादी मानते हैं। डा० महेन्द्र भटनागर ने अपनी पुस्तक 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' में लिखा है—"प्रेमचन्द अपनी साहित्यिक चेतना के प्रारम्भ से अंत तक आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के समर्थक रहे। इस दृष्टि से उनमें कोई सैद्धांतिक परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता।" (पृ० ५५)

आइये अब हम यह देखने की चेष्टा करें कि इन तीनों विचारधाराओं में कौन सी सही है। यदि प्रेमचन्द के साहित्य का गहराई से अनुशीलन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वे मूलतः यथार्थवादी हैं। उनके प्रारम्भिक प्रतिनिधि

उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट है। लेकिन यह सिद्ध करने के पहले कि वे यथार्थवादी हैं हमें यथार्थ के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना होगा।

एक समय था जबकि यथार्थवाद को लेकर बहुत बड़े भ्रम का पोषण होता रहा। तब इसे प्रकृतवाद का ही एक रूप माना गया। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में स्वीकार किया गया कि यथार्थवाद सुन्दर वस्तुओं के बदले गंदी घिनौनी चीजों का ही वर्णन करता है। शिप्ले ने भी अपने साहित्य कोष में यथार्थवादी लेखक उसे माना जो वस्तुगत फोटोग्राफिक चित्रण करता हो। इस प्रकार यथार्थवाद को उसके विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा। प्रेमचन्द की यथार्थवाद सम्बन्धी धारणा भी बहुत कुछ ऐसी ही थी इसीलिये यथार्थवाद उन्हें अधूरा लगा और उन्होंने यथार्थ के साथ आदर्श की आवश्यकता महसूस की। यहाँ पर यह कहना कि प्रेमचन्द की यथार्थवाद सम्बन्धी धारणा अपूर्ण या भ्रांत थी, उनकी आलोचना न होकर उनके समय की यथार्थवाद सम्बन्धी धारणा का यथातथ्य उल्लेख है। उस समय तक यथार्थवाद का यही पहलू सामने आया था और इस रूप में उसका बदनाम होना स्वाभाविक था। स्वयं प्रेमचन्द ने भी ऐसे यथार्थवाद की सीमा स्वीकार की है। लेकिन यदि हम यथार्थवाद पर खुले ढंग से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि वह एक अधिक पूर्ण दृष्टिकोण है और उसका उद्देश्य केवल वास्तविकता का चित्रण या प्रस्तुतीकरण ही नहीं कुछ और भी है। इस दृष्टि से यथार्थवाद के कितने ही भेद-उपभेद किये गये हैं—आलोचनात्मक यथार्थवाद, क्लासिकल यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से लेकर समाजवादी यथार्थवाद तक। लेकिन जैसा कि प्रायः होता है वस्तुओं के अनेक रूपों में से उस का कोई एक रूप इतना प्रबल हो जाता है कि कालान्तर में वही मूल वस्तु का बोधक हो जाता है यही, बात यथार्थवाद के सम्बन्ध में भी सही है। वह समाजवादी यथार्थवाद के रूप में ही पूर्णतः विकसित हुआ। इस रूप में यथार्थवाद इतना पूर्ण है कि वह आदर्श से रिक्त नहीं है। गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए इसके दो कार्य माने हैं—पहला तो यह कि यथार्थवाद मनुष्य की प्रगति में बाधा डालने वाली शक्ति को नंगा करे और दूसरा यह कि नये यथार्थ को कलात्मक रूप दे। इस रूप में यथार्थ और आदर्श में कोई विरोध नहीं

है। इस विचारधारा के अनुसार यह स्वीकार किया गया कि यथार्थवाद वास्तविक जगत के ज्ञान पर निर्भर करता है। और जगत गतिशील है इसलिये गति की दिशा का ज्ञान होना तथा उस ओर अग्रसर होना आवश्यक है। यही यथार्थ का आदर्श है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट है कि यथार्थ के लिये जड़ यथार्थ का महत्त्व नहीं होता वह बराबर गतिशील यथार्थ का अंकन और निरूपण करता है। अतः यथार्थवादी लेखक की दृष्टि दूरगामिनी और अन्तर्भेदिनी होती है। इससे स्पष्ट है कि यथार्थवाद को आदर्शवाद की अपेक्षा नहीं होती। इस रूप में यथार्थवाद एक पूर्ण जीवन-दर्शन है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित यथार्थ बहुत कुछ ऐसा ही है। लेकिन यथार्थवाद के इस व्यापक रूप को ठीक-ठीक न जानने के कारण ही प्रेमचन्द ने यथार्थ और आदर्श अलग-अलग रूपों में देखा और दोनों का संतुलन करना आवश्यक समझा। लेकिन अब जबकि यथार्थवाद के सम्बन्ध में हम अधिक स्पष्ट धारणा रखते हैं तो प्रेमचन्द को मूलतः यथार्थवादी स्वीकार करना उचित ही है।

इस प्रकार प्रेमचन्द पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द अपने युग के कितने जीवंत लेखक थे। उन्होंने अपने पूर्वजों और समसामयिकों के प्रति कितनी सतर्कता बरती थी और कितने मनोयोग से उनके कृतित्व को सोचा समझा था और अनुकूल और प्रतिकूल ढंग से लाभ उठाया था। इसी में प्रेमचन्द की महत्ता और मौलिकता निहित है।

उपन्यासों में हास्य-व्यंग्य

हास्य अश्लीलता रहित, निर्मल, उदार होना चाहिये। साहित्यिक हास्य और सामाजिक हास्य में बड़ा अन्तर होता है। वही बात जिससे मित्र गोष्ठी में पेटों में बल पड़ जाते हैं साहित्य में निंद्य हो जाती है। खुसरो और बीरबल की कथाएँ यों बहुत ही हास्यपूर्ण हैं लेकिन उनमें अधिकांश ऐसी हैं जिन्हें साहित्य में लाना साहित्य का अपमान करना होगा।

—प्रेमचन्द

—विविध प्रसंग ३, पृ० ४८

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में वृहत्तर सामाजिक जीवन और उसकी समस्याओं को चित्रित करने का उद्देश्य लेकर चले, लेकिन मनोरंजन उपन्यासों का अनिवार्य गुण है, इस बात को उन्होंने नहीं भुलाया। शायद यही कारण है कि उनके उपन्यासों में सोद्देश्यता और मनोरंजन का ऐसा सम्यक् समाहार हुआ कि वे सभी वर्ग के पाठकों के लिये प्रिय हो उठे।

वास्तव में जहाँ जीवन है वहाँ मनोरंजन भी है। इन दोनों का कोई विरोध नहीं है, वरन् यह कहना अधिक सही है कि इनका आपसी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन जहाँ भी अपने नानावर्णी रूप में चित्रित है वहाँ वह मनोरंजक है। यदि साहित्य की कल्पना रसों में की जाय तो साहित्य के सभी रस जीवन में तो हैं ही लेकिन और भी न जाने कितने रस हैं जो कालान्तर में साहित्य में अपनी छटा दिखलाते हैं और सुधी जनों के अनुमोदन से अपना स्पृहणीय स्थान बनाते हैं। इसलिये जहाँ सहज, स्वाभाविक जीवन है वहाँ क्रोध भी है और क्षोभ भी, घृणा भी है और हास्य और व्यंग्य भी, लेकिन ये सभी कुछ इस भाव से कि जीवन के प्रकृत प्रसंग-से प्रतीत होते हैं, जीवन से कटे अलग-अलग टुकड़े के रूप में नहीं।

यदि इस दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों में हास्य और व्यंग्य का अनुसंधान किया जाय तो हमें निराश नहीं होना पड़ेगा।

प्रेमचन्द जन्मजात हँसोड़ थे। उन्होंने साहित्य की शुरूआत हँसी से की। लेकिन उनके उपन्यास जो अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायित्व लेकर सामने आये, उनमें भी हास्य-व्यंग्य की प्रचुरता रही। इस दृष्टि से उनके प्रारम्भिक उपन्यासों से लेकर उनके अन्तिम अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' तक सभी एक रूप हैं।

सन् १९१६ ई० में प्रेमचन्द ने 'जमाना' उर्दू में एक लेख प्रकाशित कराया था 'हँसी', जिसमें हँसने-हँसाने की आवश्यकता का विशद् प्रतिपादन किया गया था। उसमें प्रेमचन्द ने लिखा है—"मनोविज्ञान के पंडितों का विचार है कि हँसी खुली हुई तबीयत की पहचान है और जिस आदमी के इरादे नेक न हों और जिसके हृदय को शांति और इत्मीनान हासिल न हो वह कभी खुलकर नहीं हँस सकता।" प्रेमचन्द की यह बात उन पर पूरी तरह लागू होती है। वे खुद भी खुली हुई तबीयत के आदमी थे और उनके इरादे नेक थे। इसलिये उन्होंने साहित्य में भी हँसी और व्यंग्य-विनोद को उचित स्थान दिया। अपने उसी लेख में प्रेमचन्द ने कहा है—"यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि गद्य हो या पद्य, हँसी दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह सूखी-सूखी और बेमज़ा रहती है।"

प्रेमचन्द ने यह लेख उस समय लिखा था जबकि वे लेखकीय जीवन का प्रारम्भ कर रहे थे। अतः हम मान सकते हैं कि हास्य और व्यंग्य के प्रति उन का स्वाभाविक अनुराग था। लेकिन जब उन्होंने बड़े और महान् उद्देश्य लेकर उपन्यासों की रचना की तो यह स्वाभाविक ही था कि हास्य और व्यंग्य का रूप उछलती-कूदती बरसाती नदी की धारा का न होकर अंतःसलिला फल्गु-सा होता। यही उचित भी है। जब हर बात में हँसी उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है तो आदमी आदमी नहीं रहता, मसखरा हो जाता है। लेकिन जब वही हँसी उपयुक्त अवसरों पर आनुपातिक ढंग से फूटती है तो जीवन में सौंदर्य और शोभा का समावेश होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों में आये हास्य और व्यंग्य के प्रसंग सर्वथा सहज और स्वाभाविक हैं।

'प्रतिज्ञा' प्रेमचन्द का प्रारम्भिक उपन्यास है। इसका उद्देश्य विधवाओं की हीन दशा का चित्रण और उसके लिये किये जाने वाले सुधार-मूलक कार्यों के औचित्य का प्रतिपादन है। लेकिन ऐसा करते हुए भी लेखक को जहाँ अवसर मिला है वे हास्य और व्यंग्य के स्वाभाविक प्रसंगों की योजना करने से नहीं चूके हैं। उपन्यास के एक पात्र कमलाप्रसाद, हैं तो रईस के बेटे लेकिन हैं पहले सिरे के कंजूस। लेखक कहता है—"कमला का यह हाल था कि भिक्षुक की आवाज सुनते ही गरज उठते थे, रूल उठाकर मारने दौड़ते थे, दो-चार को तो पीट ही दिया था, यहाँ तक कि एक बार द्वार पर आकर किसी भिक्षुक को, यदि कमला से मुठभेड़ हो गई तो उसे दूसरी बार आने का साहस न होता था।" यही कमलाप्रसाद दो रेशमी साड़ियाँ लाते हैं। पत्नी के पूछने पर कहते हैं—"एक तुम ले लो, एक पूर्णा को दे दो।" सुमित्रा बात ताड़ जाती है। यह जरूर पूर्णा को फँसाने का कुचक्र है। लेकिन पूर्णा के सामने खुल्लमखुल्ला क्या कहे। इसलिए वह व्यंग्य करती है—"मालूम होता है आजकल कहीं कोई रकम मुफ्त हाथ आ गई है। सच कहना किसकी गर्दन रेती है? गाँठ के रुपये खर्च करके तुम ऐसी फिजूल की चीजें कभी न लाये होगे।" कितना कठोर व्यंग्य है। कमलाप्रसाद क्रुद्ध हो जाता है और कहता है—"तुम्हारे बाप की तिजोरी तोड़ी है, और भला कहाँ डाका मारने जाता?" यहाँ व्यंग्य की चोट से तिलमिलाया हुआ कमला-प्रसाद का रूप सामने है। लेकिन सुमित्रा यहीं पर बस नहीं करती। वह कहती है—"माँगते तो वह यों ही दे देते, तिजोरी तोड़ने की नौबत न आती। मगर स्वभाव को क्या करो?" यह है प्रेमचन्द के पात्रों का निर्मम शील! पति होने से ही क्या हो जाता है। किसी का दुर्गुण कहाँ तक ढँका जायगा? और फिर ढँकने की आवश्यकता भी क्या है? ऐसी नारियाँ पुरातन सतीत्व के आदर्श पर खरी भले ही नहीं उतरें लेकिन मानवता की कसौटी पर इनका चरित्र सोने-सा निख-रता है। सुमित्रा पूर्णा से साफ कहती है—"पैसे की चीज तो कभी भूलकर भी न लाये। दस-पाँच रुपये तो कई बार माँगने पर मिलते हैं। दो-दो रेशमी साड़ियाँ लाने की हिम्मत कैसे पड़ गयी? इसमें क्या रहस्य है इतना तो तुम भी समझ सकती हो।" ऐसा पुरुष चाहे पति ही क्यों न हो, सम्मान का अधिकारी

नहीं हो सकता। इनका दिखावे का स्वभाव इनकी कुवासनाओं को नहीं छिपा सकता। सुमित्रा पूर्णा से कहती है—"जिन्हें तुम बड़ा संयमी समझती हो वे बड़े छिपे रुस्तम होते हैं। उनका तीर मैदान में नहीं घर में चलता है।" यहाँ कमलाप्रसाद के चरित्र की विकृतियों को लेकर सुमित्रा ने जो व्यंग्य-बाण बरसाये हैं, इससे प्रेमचन्द का नारी सम्बन्धी आदर्श प्रकट होता है। जाग्रत नारीत्व वास्तव में ज्वलन्त अग्निशिखा की भाँति है। उसमें सामाजिक कुसंस्कारों को दग्ध होना ही होगा। प्रेमचन्द ने शुरू में ही सुमित्रा जैसी नारी-पात्र की रचना करके भारतीय नारी को दिशा-संकेत दे दिया है। बाद में भी प्रेमचन्द के नारी-पात्र इसी पथ पर आगे बढ़ते हैं। सुमन, जालपा, सुखदा आदि इसी की आगामी कड़ियाँ हैं।

कमलाप्रसाद जैसे कंजूस और छिछोरे व्यक्ति पहले के साहित्य में भी हास्य के आलम्बन रहे हैं। लेकिन प्रेमचन्द ने इन्हें केवल हास्य का आलम्बन न बना कर व्यंग्य का आलम्बन भी बनाया है और उसके द्वारा सामाजिक विकृति का परिचय दिया है। यदि विशुद्ध हास्य की दृष्टि से देखना हो तो एक उदाहरण लिया जा सकता है—दोनों ने (अर्थात् कमला और दाननाथ ने) मैनेजर के घर भोजन किया और सिनेमा हॉल में जा बैठे, मगर दाननाथ को जरा भी आनन्द न आता था। उसका दिल घर की ओर लगा था लेकिन कमलाप्रसाद बीच-बीच में कहता जाता था—"यह देखो चैपलिन आया—वाह-वाह! क्या कहना है पट्ठे, तेरे दम का जमूड़ा है—अरे यार किधर देख रहे हो, जरा इस औरत को देखो, सच कहता हूँ यह मुझे पानी भरने को नौकर रख ले, तो रह जाऊँ—वाह! ऐसी-ऐसी परियाँ भी दुनिया में हैं। एक हमारा देश खूसट है। तुम तो सो रहे हो जी!" यहाँ कमलाप्रसाद की मस्ती, बेफिक्री और साफगोई का जो इज़हार हुआ है उससे अनायास हास्य का उद्रेक होता है।

'सेवासदन' में भी हास्य और व्यंग्य-मूलक प्रसंगों का टोटा नहीं है। सुमन जब वेश्या जीवन से तंग आकर वहाँ से निकल भागना चाहती है तो विट्ठलदास उसके लिये अन्यत्र रहने का प्रबन्ध करते हैं। लेकिन कोठा छोड़ने के पहले सुमन अपने एक-एक प्रेमी से निबट लेना चाहती है। शाम होते ही उसके प्रेमियों

की सवारी एक-एक कर आने लगती है। सबसे पहले अबुलवफा आते सिगरेट के शौकीन हैं। इनको आया देख सुमन कहती है—"आइये, आज आपको वह सिगरेट पिलाऊँ कि आप भी याद करें।" इसके बाद का चित्र यों है—"अबुलवफा ने सिग्रेट मुँह में दबाया। सुमन ने दियासलाई की डिबिया निकाल कर एक सलाई रगड़ी। अबुलवफा ने सिग्रेट को जलाने के लिए मुँह आगे बढ़ाया लेकिन न मालूम कैसे आग सिगरेट में लग कर उनकी दाढ़ी में लग गई। जैसे प्रकाश जलता है उसी तरह एक क्षण में न दाढ़ी आधी से ज्यादा जल गई। उन्होंने सिगरेट फेंक कर दोनों हाथों से दाढ़ी मलना शुरू किया। आग बुझ गई मगर दाढ़ी का सर्वनाश हो चुका था।" लेकिन जान-बूझ कर यह निर्मम परिहास करने पर भी सुमन बड़े भोलेपन से कहती है—"मेरे हाथों में आग लगे। कहाँ से कहाँ मैंने दियासलाई जलाई।" लेकिन बहुत रोकने पर भी उसके होठों पर हँसी आ ही जाती है। अबुलवफा बिगड़ कर कहते हैं—"माशूकों की शोखी और शरारत अच्छी मालूम होती है लेकिन इतनी नहीं कि मुँह जला दे। अब यह मुन्नास की-सी सूरत लेकर मैं किसे मुँह दिखाऊँगा। वल्लाह! आज तुमने मटियामेट कर दिया।" इस पर सुमन व्यंग्य करती है—"आप मेरी आत्मा को, मेरे धर्म को, मेरे हृदय को रोज जलाते हैं क्या उनका मूल्य दाढ़ी से भी कम है? जाइये, अपने घर की राह लीजिये, अब कभी यहाँ न आइयेगा।" सुमन का यह कथन एक तेज नश्तर है जिसका कोई जवाब अबुलवफा के पास नहीं है। इसलिये वे क्रोध से सुमन की ओर देखते हैं और जेब से रूमाल निकालकर जली हुई दाढ़ी को उसकी आड़ में छिपाकर चुपके से चले जाते हैं।

अबुलवफा के बाद नम्बर आता है सेठ चिम्मनलाल का। ये महाशय भी सुमन के चाहने वालों में हैं। सेठजी को आते देखकर सुमन कहती है—"यहीं छज्जे पर चले आइये, भीतर कुछ गरमी मालूम होती है।"—और दीवार से लगी कुर्सी पर बैठने का इशारा करती है। लेकिन सेठजी जैसे ही कुर्सी पर बैठते हैं तीन टाँग की कुर्सी उलट जाती है। सेठजी का सिर नीचे होता है और पैर ऊपर और वह एक कपड़े की गाँठ के समान औंधे मुँह लेट जाते हैं। "केवल

एक बार मुँह से 'अरे' निकला और फिर वह कुछ न बोले। जड़ ने चैतन्य को परास्त कर दिया।"

सुमन पहले तो डर जाती है कि कहीं चोट ज्यादा न आ गई हो। लेकिन जब लालटेन लाकर देखती है तो हँसी नहीं रोक पाती। "सेठजी ऐसे असाध्य पड़े थे मानो पहाड़ पर से गिर पड़े हैं। पड़े-पड़े बोले—हाय राम, कमर टूट गई।" सेठजी की यह दशा देखकर भी सुमन को दया नहीं आती। दया आये भी क्यों? ऐसों की दुर्गति पर तो हँसना ही उचित है।

सेठजी के जाने के बाद पंडित दाननाथ आते हैं। इनका सज-धज निराला है। बनारसी साफा सिर पर है और बदन पर रेशमी अचकन है। काले किनारे की महीन धोती है और काली वार्निश के पम्प शू हैं। इन्हें आया देख सुमन कहती है—"आइये महाराज! चरण छूती हूँ।" जब पंडितजी बैठ जाते हैं तो सुमन कहती है—"कई दिन हुए मैंने आपसे कहा था कि किवाड़ों में वार्निश लगवा दीजिये। आपने कहा वार्निश कहीं मिलती ही नहीं। यह देखिये आज मैंने एक बोतल वार्निश मँगा रखी है।" इसके बाद का चित्र यों है। "पंडित दाननाथ मसनद लगाये बैठे थे। उनके सिर ही पर वह ताक था जिस पर वार्निश रखी हुई थी। सुमन ने बोतल उठाई लेकिन मालूम नहीं कैसे बोतल की पेंदी अलग हो गई और पंडितजी वार्निश से नहा उठे। ऐसा मालूम होता था मानो शीरे की नाँद में फिसल पड़े हों।" इधर तो पंडितजी की यह दुर्दशा है और उधर सुमन को वार्निश की पड़ी है। वह कहती है—"सारी वार्निश खराब हो गई।" इस पर पंडितजी झुँझला कर कहते हैं—"घर तक पहुँचना मुश्किल है।" इस पर सुमन कहती है—"रात को कौन देखता है चुपके से निकल जाइयेगा।"

'सेवासदन' का यह प्रसंग हास्य-व्यंग्य का सुन्दर नमूना है। मनोरंजन की दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही लेकिन इससे यह भी प्रकट होता है विकृत समाज-व्यवस्था से खिसियाई हुई नारी किस प्रकार पुरुष-समाज से बदला लेती है। ऐसे समय उसके मन में जरा भी मोह-छोह नहीं होता। नारियों का जाग्रत अभिमान जब ज्वालामुखी के रूप में फूटता है तो उसकी लावा की चपेट में सभी आते हैं, चाहे वे उसके कितने ही चहेते क्यों न हों।

'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द का पहला वृहद् उपन्यास है जिसमें गाँव और शहर का जीवन विविधता के साथ चित्रित हुआ है। यहाँ आकर प्रेमचन्द का दृष्टि-कोण व्यापक होता है और रचना में गाम्भीर्य का समावेश होता है। लेकिन इस उपन्यास में भी हास्य और व्यंग्य का पुट कम नहीं है। उपन्यास के पात्र मिर्जा साहब को आधार बनाकर लेखक ने उन सब लोगों पर बड़ा कठोर व्यंग्य किया है जो दिखावे के लिये तो समाज-कल्याण का काम करते हैं लेकिन मूल में उनका गहरा स्वार्थ छिपा होता है। मिर्जा साहब ने एक इत्तहादी यतीम-खाना खोल रखा है और उसके नाम पर चन्दा वसूलते हैं और आराम से कलिया और पुलाव खाते हैं। वे अपनी पुत्रियों और भाँजियों को भी यतीमखाने की लड़कियाँ बताते हैं और उनसे इत्तहाद का प्रचार करवाते हैं। लेकिन यही उनका एक मात्र हथकंडा नहीं हैं, व कर्जखोर भी हैं। दूसरों से कर्ज लेकर मौज करना और रुपया न लौटाने की कसम खाना उनका स्वभाव है। जब कोई नालिश करने की धमकी देता है तो वे कहते हैं—"नालिश क्यों करेंगे? कह दो थोड़ा सा जहर भेज दें, खाकर मर जाऊँ। किसी तरह दुनिया से नजात मिले।" जब धमकी देने वाला झख मार कर वापस चला जाता है तो वे मौलवी साहब को बुलाते हैं और डाँटते हैं—"क्यों मियाँ अमजद, मैंने तुमसे ताकीद कर दी थी कि कोई आदमी ऊपर न आने पाये। इस प्यादे को क्यों आने दिया? मुँह में दही जमा हुआ था? इतना कहते न बनता था कि कहीं बाहर गये हुए हैं।" इस पर बेचारे मौलवी साहब कहते हैं—"मैं तो उससे बार-बार कहता रहा कि मियाँ साहब कहीं बाहर गये हुए हैं लेकिन वह जबर-दस्ती जीने पर चढ़ आया। क्या करता उससे फौजदारी करता?"

इस पर मिर्जा साहब कहते हैं उसे धक्का देकर हटा देना चाहिए था। यह बात मौलवी साहब को बर्दाश्त नहीं होती। वह तिनक कर कहते हैं—"जनाब सूखी रोटी और पतली दाल में इतनी ताकत नहीं होती, उस पर दिमाग लौंडे चर जाते हैं। हाथापाई किस बूते पर करूँ? कभी सालन तक नसीब नहीं होता। दरवाजे पर पड़ा-पड़ा मसाले और प्याज की खुशबू लिया करता हूँ। सारा घर पुलाव और जरदे उड़ाता है, यहाँ खुश्क रोटियों पर ही बसर है।

दस्तरखान पर खाने को तरस गया। मुझे भी तर माल खिलाइये, फिर देखूँ कौन घर में कदम रखता है।" मौलवी साहब के इस कथन में मिर्जा साहब के लिए चुभता हुआ व्यंग्य है। हराम खाने वाले हराम का खाते हैं, लेकिन वह भी बाँट-चूट कर नहीं। ऐसे स्वार्थ की भी कोई सीमा है! लेकिन मौलवी साहब वफाती से हाथापाई करने को तैयार हो जाते हैं। क्या करें बेचारे नौकरी जो करते हैं! वह जीने पर जबरदस्ती चढ़ते हुए वफाती को पीछे से पकड़ लेते हैं। वफाती झल्लाकर झोका देता है और मियाँ अमजद लुढ़कते हुए नीचे आ जाते हैं। लौंडे जोर-जोर से कहकहा मारते हैं। यह कहकहा भी कितना करुण है। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ के लिये मजबूर इंसानों को किस प्रकार जलील करते हैं यह इसका उदाहरण है! लेकिन वफाती ऊपर चला ही जाता है, देखता है मिर्जा साहब साक्षात् मसनद लगाये विराजमान हैं। वह कहता है—"वाह मिर्जा जी वाह, आपका निराला हाल है कि घर में बैठे रहते हैं और नीचे मियाँ अमजद कहते हैं बाहर गये हुए हैं।" इस प्रकार धूर्त लोगों की कलई खोलकर हास्य प्रसंग की सृष्टि करना और खुले में व्यंग्य वाणों की बौछार करना प्रेमचन्द की विशेषता है। ऐसे अवसरों पर लेखक को पाठकों का पूर्ण सहयोग मिलता है। ऐसे ढोंगियों, धूर्त और मक्कारों की दुर्दशा हो तो कौन नहीं हँसे ?

पेटू और कंजूस आदमी पुराने जमाने के साहित्य में भी हास्य के आलम्बन रहे हैं लेकिन इन दोनों के संयोग से 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने जिस मनोरंजक प्रसंग का ढांचा खड़ा किया है, वह ध्यान देने योग्य है। खाने वाले बहुत हैं और उनको खिलाने वाले भी मिल ही जाते हैं। अब यदि ऐसे खाने वाले का ऐसे खिलाने वाले से साबका पड़े तो पेटूपन का कमाल देखकर हँसी आयगी ही। लेकिन उस स्थिति की कल्पना कीजिये जब किसी कंजूस के घर कोई पेटू आ गया हो और दोनों के दांव-पेंच चल रहे हों। कुछ ऐसी ही दशा 'निर्मला' में पंडित मोटेराम और मालचन्द्र सिन्हा की है। मोटेराम निर्मला के विवाह का प्रस्ताव लेकर भालचन्द्र के यहाँ पहुँचे हैं। उन्हें आया देखकर भालचन्द्र नौकर से कहते हैं—"जाकर बाजार से एक आने की ताजी मिठाई ला। दौड़ता हुआ

जा।" लेकिन नौकर हलवाई की दुकान पर जाकर चिलम पीने में मशगूल हो जाता है। इस बीच पंडित मोटेरामजी की दशा का वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है—"पंडित मोटेरामजी बगुले की तरह ध्यान लगाए बाजार के रास्ते की ओर ताक रहे थे। लालसा से व्यग्र होकर कभी यह पहलू बदलते, कभी वह पहलू। एक आने की मिठाई ने तो आशा की कमर पहले ही तोड़ दी थी, उसमें भी यह विलम्ब, दारुण दशा थी।" नौकर के लौटने में काफी विलम्ब होता है। पंडितजी को यह सहन नहीं होता। वे लकड़ी उठाते हैं और कहार को खोजते-खोजते बाजार जा पहुँचते हैं। वहाँ वे ढाई-तीन सेर मिठाई डट कर खाते हैं और भालचन्द्र के नाम पर हिसाब लिखा देते हैं। दूसरे दिन सुबह जब भालचन्द्र को यह मालूम होता है कि पंडितजी रात में बाजार से खा आये थे तो वे पंडितजी से कहते हैं—"अजी पूरी-मिठाई में वह आनन्द कहाँ जो बाटी और दाल में है। दस-बारह आने खर्च हो गये होंगे फिर भी पेट न भरा होगा। आप मेरे मेहमान हैं जितने पैसे लगे हों ले लीजियेगा।" लेकिन जब बाबू साहब को मालूम होता है पंडितजी तीन सेर मिठाई खा गये, जिसके पैसे उन्हें देने होंगे, तो उनका दिमाग चकरा जाता है। तीन सेर तो कभी उनके यहाँ महीने भर का टोटल भी न होता। वह अन्दर जाकर पत्नी से कहते हैं—"कुछ सुनती हो, यह महाशय कल तीन सेर मिठाई उड़ा गये। तीन सेर पक्की तौल।" भालचन्द्र और उनकी पत्नी की ये बातें पंडितजी बाहर से सुन लेते हैं। उनके वापस आने पर कहते हैं—"आप लोगों में ब्राह्मण के प्रति लेशमात्र भी श्रद्धा नहीं है।···आपने अभी खाने वाले देखे कहाँ। एक बार खिलाइये तो आँखें खुल जायें। ऐसे-ऐसे महान् पुरुष पड़े हुए हैं जो पंसेरी भर मिठाई खा जाएं और डकार तक न लें। एक-एक मिठाई खाने के लिये हमारी चिरौरी की जाती है, रुपये दिये जाते हैं। हम भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हैं कि आप के द्वार पर पड़े रहें। आपका नाम सुनकर आये थे, यह न जानते थे कि यहाँ भोजन के भी लाले पड़ेंगे।" पंडितजी की ये बातें सुनकर भालचन्द्र इतने झेंपे कि मुँह से कोई बात नहीं निकली। उनकी कंजूसी की कलई खुल गई। समाज में बदनाम होने का डर लगा। बेचारे भीतर जाकर पत्नी से कहते हैं—

"अब तो इसे कुछ दे दिलाकर राजी करना पड़ेगा।···यों जान न बचेगी। लाओ दस रुपये बिदाई के बहाने दे दूँ।" जब बाबू साहब दस रुपये पंडितजी के चरणों पर रखते हैं तो पँडितजी मन ही मन सोचते हैं—"धतेरे मक्खीचूस की—ऐसा रगड़ा कि याद ही करोगे। तुम समझते होंगे कि दस रुपये देकर इसे उल्लू बना लूँगा। इस फेर में न रहना, यहाँ तुम्हारी नस-नस पहचानते हैं।"

कंजूस और पेटू व्यक्ति के संयोग से यहाँ परिहास का जो निर्मम नाटक खेला गया है वह मनोरंजक तो है ही लेकिन ग्रामीण और बाहरी पात्रों के मनोभावों के अंतरों पर भी प्रकाश डालता है। यहाँ एक कंजूस के काइयांपन और पेटू के लोभ और लालसा में झड़प होती है। ऐसी झड़पों में जिसकी भी जीत हो, पाठक और दर्शक तालियाँ बजायेंगे ही।

विशुद्ध हास्य की दृष्टि से 'कायाकल्प' का एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है। मुंशी वज्रधर संगीत के शौकीन हैं। संगीत उनका व्यसन है और उनकी कमजोरी भी। इसलिये जहाँ भी अवसर मिलता है वे संगीत का आयोजन करने से नहीं चूकते। राजा विशालसिंह को जैसे ही राज्यगद्दी मिलती है वे तुरन्त एक संगीत-सभा का आयोजन कर लेते हैं। वे सभा के लिये जो कलाकार जुटाते हैं उनका परिचय इस प्रकार है—"सब के सब बूढ़े, किसी का मुँह पोपला, किसी की कमर झुकी हुई, कोई आँख का अन्धा। उनका पहनावा देखकर ऐसा अनुमान होता था कि कम से कम तीन शताब्दी पहले के मनुष्य हैं······दो-तीन उस्ताद नंग-धड़ंग थे। जिनके बदन पर एक लंगोटी के सिवा और कुछ न था।" ऐसे कलाकारों की तारीफ करते मुंशी वज्रधर थकते नहीं। उदाहरण के लिये वे एक कलाकार का परिचय इस प्रकार देते हैं—"यह उस्ताद फजलू हैं, राग-रागिनियों के फिकैत, स्वरों से रागिनियों की तस्वीर खींच देते हैं। एक बार आपने लाट साहब के सामने गाया था। जब गाना बन्द हुआ तो साहब ने आपके पैरों पर अपनी टोपी रख दी और घंटों छाती पीटते रहे। डाक्टरों ने जब दवा की तो उनका नशा उतरा।" यहाँ परिचय देने में मुंशीजी अपने जानते कोई अतिरंजना नहीं कर रहे हैं। वे पूरी संजीदगी से राजा साहब के सामने

कलाकारों का बखान कर रहे हैं। लेकिन हम हैं कि हँसने को मजबूर हो जाते हैं।

जब गाना शुरू होता है तो राग-रागिनियों की कोई सीमा नहीं रहती। लेखक के शब्दों में "उस्तादों के मुख में सभी रागिनियाँ समान रूप धारण करती हुई मालूम होती हैं। आग में पिघलकर सभी वस्तुएँ एक-सी हो जाती हैं।" इधर रागिनियों का यह हाल और उधर मुंशीजी की मस्ती का क्या कहना! "पहले बैठे-बैठे झूमते थे फिर खड़े होकर झूमने लगे। झूमते-झूमते आप ही आप उनके पैरों में एक गति-सी होने लगी। हाथ के साथ पैरों से भी ताल देने लगे। यहाँ तक कि वे नाचने लगे।" यह है मुंशीजी की गुण ग्राहकता की मिसाल। सभी कर्मचारी मुँह फेरकर हँसते हैं तो हँसें, बला से, मुंशीजी तो अपनी धुन में मगन हैं। उन्हें किसी ओर ध्यान देने की फुर्सत नहीं है। यहाँ मुंशीजी के निर्दोष संगीत शौक से प्रेमचन्द ने जिस हास्य-प्रसंग की अवतारणा की है उसमें निर्मल हास्य है। हम यहाँ मुंशीजी को खब्ती कह सकते हैं, लेकिन उनकी सरलता और निष्कपटता मन को छुए बिना नहीं रहती।

हास्य और व्यंग्य के प्रकरण तो 'गोदान' में भरे पड़े हैं। जिस प्रकार अन्य सभी गुणों के कारण 'गोदान' प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कथाकृति है उसी प्रकार हास्य और व्यंग्य की दृष्टि से भी यह मास्टरपीस है। स्थानाभाव के कारण हम कुछ प्रसंगों की ओर इंगित करके ही अपनी बात स्पष्ट करेंगे। राय साहब के यहाँ धनुष-यज्ञ प्रसंग में शहर के सभी सफेदपोश इकट्ठे होते हैं। वहाँ मेहता पठान का अभिनय करते हैं। इस अभिनय की वास्तविकता से सभी अपरिचित हैं, अतः सभी आतंकित हैं। यहाँ प्रेमचन्द ने शहर के लोगों की कायरता और काइयां-पन को प्रत्यक्ष कर दिया है।

झूना और पंडितजी वाला प्रसंग भी ध्यान देने योग्य है। झुनिया दूध बेचने के लिये घर से निकलती है तो कितने ही लोभी लम्पटों से उसका पाला पड़ता है। वह उन सब से किस प्रकार निबटती है, गोबर को इसका ब्यौरा देती है। यहाँ वासना से विकल गिड़गिड़ाते हुए पंडित की मुख-मुद्रा का ध्यान कर हँसी आती है। जब झुनिया हाँडी उसके मुँह पर दे मारती है और पंडितजी सिर से पाँव तक सराबोर हो जाते हैं और सिर पकड़कर बैठ जाते हैं और हाय-

हाय करने लगते हैं तो पाठकों को मजा आ जाता है।

ऐसे कितने ही प्रसंग 'गोदान' में भरे पड़े हैं। लगता है यहाँ आकर प्रेमचन्द अचूक व्यंग्य करने में और प्रवीण हो गये हैं। जिस प्रकार निराला की व्यंग्य क्षमता उनकी बाद की रचनाओं में अधिक सुस्पष्ट हो गई है उसी प्रकार प्रेमचन्द भी 'गोदान' में व्यंग्य-प्रयोग में अधिक सिद्धहस्त हो गये हैं। 'गोदान' में सामाजिक विडम्बनाओं पर जो चुभती हुई उक्तियाँ हैं वे प्रेमचन्द को एक ऊँचे पाये का व्यंग्यकार सिद्ध करती हैं। जिस प्रकार चरित्र-चित्रण, कथा-संगठन और समस्याओं के निरूपण की दृष्टि से 'गोदान' का महत्त्व है उसी प्रकार चुटीले सम्वादों, चुभती हुई उक्तियों और मनोरंजक प्रसंगों की दृष्टि से भी वह परिगण्य है।

प्रेमचन्द ने अपने 'हँसी' शीर्षक लेख में हास्य के उद्दीपकों की चर्चा की है जिनमें उनके अनुसार निम्नलिखित बातें आती हैं—(१) किसी चीज का अनोखापन; जैसे बंदर का कोट पतलून पहनना। (२) किसी अच्छी चीज का फौरन किसी बुरी सूरत में जाहिर होना; जैसे मुँह चिढ़ाना। (३) कोई शारीरिक दोष; जैसे कानापन या लँगड़ाकर चलना। (४) मानव-विशेषताओं में कोई असाधारण बात; जैसे शेखी मारना या भोलापन। (५) किसी चीज का अपने साधारण रूप से अलग हटना; जैसे मुँह में कालिख लगना। (६) अशिष्टता। (७) छोटी-मोटी दुर्घटनाएँ; जैसे किसी का लड़खड़ाकर गिर पड़ना। (८) निर्लज्ज शब्द का प्रयोग। (९) हर तरह की अतिशयोक्ति या हद से आगे बढ़ जाना; जैसे भारी भरकम पेट या ऊँचा कद। (१०) गुपचुप बातें। (११) चीजों की तरह आवाज में भी अजनबीपन, अनोखापन; जैसे बेसुरा गीत। (१२) दूसरों की नकल करना। (१३) कोई द्वयर्थक वाक्य आदि।

प्रेमचन्द नें अपने उपन्यासों के हास्य प्रकरणों में इन उद्दीपकों का समावेश तो किया ही है जैसे 'कायाकल्प' के गायकों का अन्धापन या उनकी नंग-धड़ंग सूरत या 'प्रतिज्ञा' के कमलाप्रसाद का शेखी मारने की रौ में यह कह जाना—"यहाँ अपने बाप का भी विश्वास नहीं करते, वह (सुमित्रा) क्या चीज है।"

या अबुलवफा की दाढ़ी जलना या सेठ चिम्मनलाल की कमर टूटना। लेकिन इनके साथ-साथ उनके उपन्यासों में कुछ ऐसे भी उद्दीपक हैं जो अपने-आपमें नये मालूम होते हैं। उदाहरण के लिये 'गोदान' का शिकार वाला प्रसंग ले सकते हैं। मिर्जा ने एक हरिन का शिकार किया है जो काफी भारी भरकम है। उसे दिखाकर वे तंखा से कहते हैं—"अगर आप इसे सौ कदम ले चलें तो मैं वादा करता हूँ आप मेरे सामने जो तजवीज रखेंगे, उसे मंजूर कर लूँगा।" हरिन भारी है यह तंखा जानते हैं लेकिन दूसरी ओर प्रलोभन भी है। यदि कहीं मिर्जा साहब एलेक्शन लड़ने के लिये या बीमा कम्पनी के डाइरेक्टर बनने के लिये तैयार हो गये तो मजा आ जायेगा। ऐसा सोच कर वे कोट उतारते हैं, रूमाल से मुँह पोंछते हैं और हरिन को उठाकर गर्दन पर रखते हैं लेकिन दो-तीन बार जोर लगाने पर भी गर्दन नहीं उठती, कमर झुक जाती है और हाँपने लगते हैं। मिर्जा साहब उन्हें सहारा देते हैं और वह किसी तरह आगे बढ़ते हैं। लेकिन बहुत दूर नहीं जा पाते कि सिर में चक्कर आता है और वह शिकार गर्दन पर लिये पथरीली जमीन पर गिर पड़ते हैं। यहाँ अत्यधिक लोभ और लालच के कारण ही तंखा हास्य के उद्दीपक हो उठे हैं। प्रेमचन्द ने यहाँ अत्यधिक लोभ और लालच को, जो महाजन सभ्यता की विकृति है, हास्य का आलम्बन बनाया है। बेचारे तंखा तो निमित मात्र हैं।

इसी प्रसंग में हम खन्ना की कायरता देखकर हँस पड़ते हैं। वे राय साहब के साथ आये हैं शिकार के लिये लेकिन सामने की झाड़ी में सरसराहट की आवाज सुनते ही चौंक पड़ते हैं और प्राण रक्षा के लिये राय साहब के पीछे छिप जाते हैं। प्राण रक्षा की यह भावना स्वाभाविक हो सकती है लेकिन शिकार प्रसंग में यह हास्य का उद्रेक करती है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने साधारण प्रसंगों में भी कुछ ऐसी खूबी पैदा की है कि वे हास्यपूर्ण हो उठे हैं। 'गोदान' का कब्बडी वाला प्रसंग भी ऐसा ही है। खेल में प्रतिद्वन्द्वी को पकड़ना और पछाड़ना आम बात है। लेकिन मिर्जा और मेहता में जो धर-पकड़ होती है और मालती पर उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उससे यह प्रसंग मनोरंजक हो उठा है। इसलिये इन कुछ

उदाहरणों के आधार पर हम तो यह कहने को विवश हैं कि प्रेमचन्द हास्य के रूढ़ उद्दीपकों के न रहने पर भी अपने रचना-कौशल से हास्य की अवतारणा करने में सफल हुए हैं। इसके मूल में जिन्दादिल स्वभाव, मंजी हुई वर्णन शैली और हर आम प्रसंग को मनोरंजक बनाकर चित्रित करने की प्रवृत्ति ही है।

व्यंग्य करने के पीछे प्रेमचन्द का दृष्टिकोण वही है जिसका उल्लेख हम्वर्ट-वुल्फ ने इस प्रकार किया है—The satirist holds a place halfway between the preacher and wit. He has the purpose of the first and uses the weapons of the second. He must love and hate. For what impels him to write is not less the hatred of wrong and injustice than a love of the right and just. प्रेमचन्द में भी अच्छी वस्तुओं और गुणों के प्रति प्यार और बुरी वस्तुओं और दुर्गुणों के प्रति घृणा है। इस घृणा के कारण ही वे यथावसर कठोर व्यंग्य करने के लिये प्रेरित हुए हैं। जब होरी कहता है—"मोटे वह होते हैं जिन्हें न रिन की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयायी है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है।" तो उस समाज व्यवस्था के प्रति लेखक की घृणा स्पष्ट होती है जिसमें बहुसंख्यकों के शोषण पर अल्पसंख्यक फूलते और फलते हैं। लेकिन इसके साथ ही लेखक के मन का वह अनुराग भी सूचित होता है जो उसे उस समाज-व्यवस्था से है जिसमें सबको फूलने-फलने का समान अवसर मिलता है। 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान' शीर्षक लेख में प्रेमचन्द स्पष्ट कहते हैं— "घृणा का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी।" इस प्रकार यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि प्रेमचन्द के व्यंग्यकार को घृणा और प्यार इन दोनों ने आन्दोलित किया है। इसीलिये उनके व्यंग्यों में जहाँ मीठी महीन मार और चुभन है वहाँ यह जानने पर कि व्यंग्य के पीछे उद्देश्य क्या है मिठास का भी समावेश होता है।

परिशिष्ट

पत्रकार प्रेमचन्द

प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये। हिन्दी में आने पर भी उन्होंने उर्दू को एकदम छोड़ नहीं दिया। उन्होंने अपने प्रमुख उपन्यास पहले उर्दू में लिखे और फिर हिन्दीकरण करके उनका हिन्दी में प्रकाशन किया। यह उनके लिये एक नया अनुभव था। अमृतराय ने 'कलम का सिपाही प्रेमचन्द' में लिखा है—"साल भर के भीतर, शायद आठ या नौ महीने में ही 'सेवासदन' अपने मूल उर्दू रूप में तैयार हो गया मगर प्रकाशक कहाँ। इधर हिन्दी का प्रकाशक तकाजे पर तकाजे कर रहा था। प्रेमचन्द के लिये यह एक नया ही अनुभव था और उर्दू के अब तक के अनुभव से कितना भिन्न, जहाँ कोई छापनेवाला ही न मिलता था और किताब खुद अपने खर्च से छपानी पड़ती थी या पचास रुपये लेकर एक एडीसन का वारा-न्यारा कर देना पड़ता था। उर्दू 'प्रेम-पचीसी' के साथ यही तो हुआ था। बड़ी-बड़ी मुश्किलों से बहुत-बहुत चिरौरी विनती के बाद उसका पहला हिस्सा, जिसमें कुल बारह कहानियाँ थीं, डेढ़ वर्ष में छपकर तैयार हुआ था, सन् '१५ के आरम्भ में। दूसरा हिस्सा उसके फौरन बाद आना चाहिये था, उसके बिना किताब अधूरी थी। लेकिन कभी यह, कभी वह, एक न एक अड़चन लगी रही और उसका दूसरा हिस्सा छपकर तैयार हुआ सन् '१८ के आरम्भ में।" इससे स्पष्ट है कि उर्दू की स्थिति प्रेमचन्द के लिये अधिक अनुकूल न थी। वहाँ किताबें मुश्किल से बिकती थीं। स्वयं प्रेमचन्द ने 'जमाना' के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था—"प्रेम-पचीसी हिस्सा अव्वल को छपे हुए चार साल हुए मगर अभी तक निस्फ (आधी) पड़ी हुई है। हिस्सा दोयम की मुश्किल से १५० जिल्दें बिकीं।" इससे प्रेमचन्द को समय-समय पर कोफ्त और झुंझलाहट

होती थी। एक बार तो तैश में आकर उन्होंने निगम साहब को लिखा भी—"अब हिन्दी लिखने की मश्क भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नहीं है। यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में जिन्दगी सर्फ कर दूँगा। उर्दू-नवीसी में किस हिन्दू को फैज हुआ है जो मुझे हो जायगा।" लेकिन इतना होने पर भी उर्दू से उनका लगाव कम नहीं हुआ। सारी कठिनाइयों से परिचित होते हुए भी वे अपने हर उपन्यास का उर्दू संस्करण निकालने के लिये सचेष्ट रहे। इससे स्पष्ट है कि उर्दू-साहित्य की परम्परा से प्रेमचन्द का आजीवन संबंध रहा और यह संबंध कुछ ऐसा रहा कि इसे मात्र औपचारिक संबंध नहीं कहा जा सकता।[1] इसकी तुलना में हिन्दी साहित्य की परम्परा से प्रेमचन्द का संबंध कैसा था, यदि इस पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वहाँ वे पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य से उतने घनिष्ठ भाव से नहीं जुड़ सके जितना कि जुड़ना चाहिये। पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, कुछ अपवादों को छोड़कर, प्रेमचन्द के अधिक अनुकूल नहीं थीं। वहाँ उन्हें शैली शिल्प का वह विकास दृष्टिगत नहीं होता था, जो वे उर्दू में सरशार आदि लेखकों में पा चुके थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी से अपना संबंध जोड़ा, यत्किंचित प्रभाव भी ग्रहण किया। लेकिन इतना होते हुए भी यह तो स्पष्ट ही है कि एक-कथाकार के नाते वे उर्दू की परम्परा में जहाँ, जिस रूप में हैं, उस प्रकार हिन्दी कथा-परम्परा में नहीं माने जाते। लेकिन जब हम उन्हें एक पत्रकार के रूप में देखते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि वे शत-प्रतिशत हिन्दी के भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों की परम्परा में हैं। इस दृष्टि से उर्दू साहित्य की परम्परा से उन का कोई मेल नहीं है।

---

(१) प्रेमचन्द ने एक जगह कहा भी है—"मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ उतनी हिन्दी नहीं लिखता और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिये जितनी स्वाभाविक है उतनी हिन्दी नहीं है।"

(हिन्दी प्रचार सभा मद्रास में दीक्षान्त भाषण)

यदि हम भारतेन्दु युग के अधिकांश साहित्यकारों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होगा कि वे जहाँ कवि, लेखक और नाटककार हैं वहाँ उच्चकोटि के पत्रकार भी हैं। लेकिन उनकी पत्रकारिता में व्यवसायिकता को दखल नहीं है। वे सभी पत्रकार प्रायः इसलिये हैं कि पत्रकारिता को वे साहित्य को पल्लवित-पुष्पित करने का एक सबल साधन मानते हैं। बिना पत्रकारिता के दुर्गम क्षेत्र में धँसे साहित्य और समाज की सेवा नहीं हो सकती। इसलिये वे हजार जोखिमों के बावजूद पत्र निकालते हैं। पत्र निकालना उनके जीवन भर का रोना हो जाता है लेकिन फिर भी वे पत्र निकालने से बाज नहीं आते। यह एक घर-फूंक तमाशा है जिसे वे रुचि लेकर बार-बार देखना चाहते हैं, चाहे उन्हें जितनी भी क्षति उठानी पड़े। गाँठ में पैसे नहीं हैं, जनता में पत्रों को खरीदकर पढ़ने के लिये उत्साह नहीं है, विज्ञापनदाता नहीं मिलते, प्रेस की कोई सुविधा नहीं है, बिक्री का कोई समुचित प्रबंध नहीं है, लेकिन फिर भी पत्र निकलता है और बहुधा एक ही व्यक्ति पीर बवर्ची भिश्ती खर अर्थात् सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक आदि का उत्तरदायित्व सम्भालता है। यह है पत्रकारिता का जनून जो भारतेन्दु युग के अधिकांश साहित्यकारों के सिर पर सवार है चाहे वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हों या प्रतापनारायण मिश्र या प्रेमधन या और कोई। यदि भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों के जीवन से पत्रकारिता अलग कर दी जाय तो उनके संघर्षपूर्ण जीवन का एक बड़ा हिस्सा गायब हो जायगा और उनका साहित्यकार वाला जीवन बहुत कुछ मलीन दीखेगा। पत्र चाहे कुछ ही पन्नों का हो, लीथो पर ही छपता हो, लेकिन है वह साहित्यकारों के हृदय-रक्त की खाद पाकर फूलने-फलने वाला पौधा। क्या हुआ कि वह जल्द ही मुरझा जाता है लेकिन जब तक डाल पर रहता है लोगों को सौरभ-संस्पर्श से मुग्ध किये रहता है। कुछ वनफूलों का-सा सौंदर्य है उसमें।

भारतेन्दु-युगीन पत्रकारिता व्यावहारिकता को लात मारकर चलती है। वह तो एक बीड़ा है आन का जो फक्कड़ साहित्यकार उमंग में आकर उठा लेता है और जब तक दम में दम है सफलता के लिये पागल बना रहता है। वह साहित्य सेवा पत्रों के माध्यम से तो करता ही है लेकिन और भी कितने ही दीगर

काम हैं जो उसे पत्रों के सहारे करने हैं। कभी वह समाज की रूढ़ियों पर चोट करता है, समसामयिक न्याय व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ाता है, देशी उद्योग-धंधों की वकालत करता है, पुलिस की बखिया उधेड़ता है और कभी कांग्रेस की जय मनाता है, देशवासियों को सोये से जगाता है और संस्कृति के रहस्यों को जन-साधारण के समक्ष सरल-सहज रूप में प्रस्तुत करता है। पत्रकारिता की ठीक ऐसी परम्परा उर्दू में कभी नहीं रही। कथा-साहित्य वहाँ चाहे जितना विकास कर सका हो, जबान की चाशनी वहाँ चाहे जितनी अधिक रही हो, लेकिन वहाँ भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र जैसे फक्कड़ पत्रकार साहित्यकार मुश्किल से मिलेंगे। उर्दू के लेखक हसीन और दिलकश अफसानों के बड़े-बड़े पोथे भले ही रचते हों और इस प्रकार जनता की चित्तवृत्ति पर अपनी रंगीन कलम की धाक जमा लेते हों लेकिन वे पत्र निकालकर खामख्वाह मुसीबत मोल लेना नहीं जानते। वहाँ घर फूंक तमाशा देखने का शौक साहित्यकारों को नहीं है। यह तो कबीर या हिन्दी के साहित्यकार ही हैं जो अपना घर फूंक कर हाथ में जलती लुकाठी लिये बाजार में खड़े हैं और लोगों को रोशनी बाँट रहे हैं। उर्दू के लेखक भारतेन्दु-युगीन हिन्दी साहित्यकारों की तुलना में अधिक व्यावहारिक थे इसलिये जिस गली खतरा है वहाँ जाने को उत्सुक नहीं हैं। लेकिन प्रेमचन्द एक कथाकार के रूप में इनके निकट होकर भी इनकी व्यावहारिक परम्परा में नहीं हैं। वे तो प्रायः कुछ उसी ढंग से सोचते हैं और काम करते हैं जिस प्रकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र सोचते और काम करते हैं। एक अपना प्रेस हो और उससे एक-दो पत्र निकलें, यह प्रेमचन्द के हृदय की कुछ वैसी ही कामना है जैसी कामना होरी के हृदय में गौ पालने की है। चाहे जैसे भी हो होरी एक गाय अपने घर ले आता है। अब यह बात दूसरी है कि उसके चलते ही उसे नाना प्रकार की मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। एक जगह धनिया गाय को कोसती हुई कहती भी है—"इस सत्यानासी गाय ने आकर घर चौपट कर दिया।" ठीक यही दशा प्रेमचन्द की भी है। अपने सीमित साधनों के बावजूद प्रेमचन्द अपना प्रेस खड़ा कर लेते हैं और 'हंस' और 'जागरण' दो-दो पत्र निकालते हैं। लेकिन ये प्रेस और पत्र उनके लिये कुछ उतने ही मंहगे साबित होते हैं जितनी कि होरी

के लिये गाय। नहीं तो प्रेमचन्द ऐसा क्यों कहते—"सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हजार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गईं। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वादाखिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो पढ़ने-लिखने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा। मेरी जिन्दगी की यह सबसे बड़ीं गलती है।" और 'हंस' और 'जागरण' के चलते क्या-क्या मुसीबतें उठानी पड़ी यह भी प्रेमचन्दजी से सुनिये—"हंस पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसीके साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी।...मेरे पास न रुपये हैं, न प्रामेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता।" इधर तो प्रेमचन्द की आर्थिक स्थिति ऐसी है और उधर "इस बीच मैंने जागरण को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया लेकिस किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। अब वह बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें, मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है।...धन का अभाव है। हंस में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका।...इससे भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या? यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है।" यह है पत्रकारिता की लत! कुछ ऐसी ही लत के शिकार थे भारतेन्दु-युगीन साहित्यकार भी। यदि प्रेमचन्द की आत्मा एक भावना-प्रवण और कर्त्तव्य-निष्ठ हिन्दू की न होती तो वे यह जी का जंजाल न पालते। लेकिन यहाँ तो गीता में कहा गया है कि आदमी हर हालत में अपना कर्त्तव्य करे, फल की चिन्ता न करे। इसी को ध्यान में रखकर प्रेमचन्द भी यह सब मुसीबत मोल लेते हैं। होगा जो होना होगा, उन सबकी चिन्ता अभी से क्यों की जाय। यह बात नहीं है कि उन्हें अपनी सीमा नहीं मालूम है। मालूम

है और बखूबी मालूम है। २२ अगस्त के जागरण में उन्होंने लिखा—"हमारे पास न संगठन है न अनुभव। और धन का तो हमसे पुश्तैनी बैर है। किसी ने हिन्दी पत्रकारों का परिहास करते हुए लिखा था—'वह केवल एक कलम और एक रीम कागज लेकर समाचारपत्र निकाल बैठता है।' यह व्यंग्य हमारे ऊपर अक्षरश: लागू है।" यह सब जानते हुए भी प्रेमचन्द पत्र निकालने पर तुले हुए हैं। इसके कारण हैं। जैनेन्द्रकुमार को संबोधित करते हुए एक जगह उन्होंने लिखा है—"साहित्य सृष्टि अनिश्चित सी चीज है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अलावा इसके उसके लिये मानसिक शांति और वातावरण की शान्ति अपेक्षित है जो कि वर्तमान स्थितियों में हाथ नहीं आती।"[१] इसलिये प्रेस और पत्र चलाने के सिवा और कोई चारा नहीं है। इस प्रकार यह अरमान और आवश्यकता दोनों हैं।

जिस प्रकार भारतेन्दु-युगीन साहित्यकार अपने को केवल साहित्यकार ही नहीं समझते थे वरन् अपने ऊपर समाज की और भी पचीसियों जिम्मेदाररियां महसूस करते थे उसी प्रकार प्रेमचन्द भी केवल किस्सागो नहीं हैं। उन्हें समसामयिक राजनीति की आलोचना करनी है, उसमें क्या सही और क्या गलत है यह जनसाधारण को बताना है। स्वराज्य आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप देकर उस में योग देना है। दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है यह अपने हमवतनों को बतलाना है। कलम के प्रहार से सत्ता के खूनी दाँत तोड़ने हैं, अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था और पुलिस के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करना है और जनता का मनोबल ऊँचा करना है। यह सारा काम प्रेमचन्द को करना है। फिर यह बिना प्रेस और पत्रिका के

---

(१) इसीसे मिलती-जुलती बात प्रेमचन्द अन्यत्र भी कहते हैं—"पुस्तकें लगातार लिखते रहना अपने बस की बात नहीं है। कभी-कभी महीनों काम नहीं होता और न पुस्तकों से इतने रुपये मिल सकते हैं कि उन पर depend किया जा सके। यह भी तो चिन्ता रहती है कि कोई ऊटपटांग चीज न लिख दी जाय। समाचारपत्र तो दूकान है, एक बार चल निकले तो उससे थोड़े परिश्रम में आमदनी हो सकती है और तब पुस्तक भी लिखी जा सकती है।"

कैसे होगा ? इसलिये प्रेस तो खड़ा करना ही है चाहे इसके लिये जन्म भर की कमाई गलानी पड़े या कर्ज लेना पड़े। पत्रिका भी निकालनी ही है चाहे जो मुसीबत सिर आये। लंगोटी पर फाग खेलने का भी अपना मजा है और जब उससे समाज और साहित्य की सेवा होती है तो पीछे हटने का सवाल कहाँ उठता है ? इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने एक बार फिर हिन्दी में भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों की बलिदानी परम्परा की कड़ी आगे बढ़ाई।

प्रेमचन्द पत्रकारिता के क्षेत्र में कुछ परिस्थितिवश ही आये थे, ऐसा कहा जाता है। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द के कथनों का उद्धरण दिया जाता है। रामचन्द्र टंडन को लिखते हुए एक बार प्रेमचन्द ने कहा था—"मैं तो एक हरकारा मात्र हूँ और सदा ऐसे कामों में हाथ डालने की चेष्टा करता रहता हूँ जिनके लिये मैं नहीं बनाया गया। पत्रकार कला से मेरा स्वभावगत विरोध है, पर परिस्थितियों से विवश होने के कारण मैं उसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ हूँ।"

इससे यह समझा जाता है कि प्रेमचन्द पत्रकार जबरन बने। लेकिन मेरी धारणा है कि प्रेमचन्द में पत्रकार की जन्मजात प्रतिभा थी। यह बात दूसरी है कि परिस्थितियों के कारण वे पत्रकार के रूप में अधिक दिनों तक पत्र जगत के समक्ष नहीं टिक सके। उनमें पत्रकार की प्रतिभा स्वभावतः थी, इसे सिद्ध करने के लिये उनकी योजनाओं का हवाला देना उचित है। ऐसी मौलिक और अछूती योजनाएँ वही बना सकता है जो स्वभावतः पत्रकार हो। जो विवश होकर पत्रकारिता के क्षेत्र में आयगा वह ज्यों-त्यों अपना निर्वाह करता जायगा। लेकिन पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रेमचन्द की जो मौलिक उद्भावना शक्ति है उससे स्पष्ट होता है कि पत्रकारिता उनकी घुट्टी में पड़ी है। हिन्दी पत्रों की हीन दशा को देखकर सबसे पहले उन्होंने ही अनुवादक मंडल की योजना बनाई। इससे स्पष्ट है कि पत्रों की वास्तविक समस्या को तीव्रता से पहले उन्होंने ही अनुभव किया। इस रूप में वे नैसर्गिक पत्रकार सिद्ध होते हैं। संक्षेप में उनकी अनुवादक मंडल योजना को जान लेने से पत्रकारिता के क्षेत्र में उनकी मौलिक उद्भावना शक्ति का पता लगेगा। हिन्दी

पत्रों की दशा पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा था—"रूटर, असोशियेटेड, फ्री प्रेस सभी खबर पहुँचाने वाली संस्थाएँ तार द्वारा खबरें भेजती हैं। अंग्रेजी पत्र तार पाते ही उसको देखभालकर कुछ विराम-चिह्न घटा-बढ़ाकर या जरूरत के मुताबिक तार को काट-छाँटकर कम्पोज करने के लिये भेज देते हैं। हिन्दी पत्रों में इन तारों का तर्जुमा होना चाहिये। इसके लिये ४ से ६-८ तक अनुवादक रखे जाते हैं। तार मिला है दस या ग्यारह बजे रात को। उसे एक बजते-बजते कम्पोजिंग में चला जाना चाहिये, नहीं तो वह छप न सकेगा। इसी घंटे दो घंटे में अनुवादक को तेजी के साथ अपना काम करना पड़ता है। खबर छोटी-सी हुई तो कोई बात नहीं। लेकिन कहीं वह वायसराय या महात्मा गाँधी की स्पीच हुई या ऐसेम्बली या कौंसिल की बैठक की रिपोर्ट हुई तो एक, दो, तीन, चार कालमों की खबर हो सकती है और एक घंटे के अन्दर उसका अनुवाद होना परमावश्यक है, नहीं तो वह खबर रह जायगी। ऐसी हड़बड़ी में अनुवाद कैसा होगा इसका अनुमान किया जा सकता है। वाक्य के वाक्य और पैरे के पैरे छोड़ देने पड़ते हैं और भाषा इतनी उलझी हुई इतनी बेसिर-पैर की हो जाती है कि बहुधा उसका मतलब समझने के लिये अनुमान से काम लेना पड़ता है। यह कठिनाई सभी भाषा के पत्रों के सामने है। एक तो हिन्दी पत्र दो पैसे में बिकें, दूसरे अनुवादकों का वेतन दें। तो वह क्यों न घाटे पर चले और क्यों न उसका जीवन संकटमय हो? दरिद्रता के कारण पत्रों को सुयोग्य अनुवादक भी नहीं मिलते।" यह है हिन्दी या अन्य भाषा के पत्रों की हीन दशा का वास्तविक कारण। लेकिन इस पर अन्य लोगों की अपेक्षा प्रेमचन्द की दृष्टि ही क्यों जाती है? इस का कारण है कि वे केवल साहित्यकार ही नहीं, पत्रकार भी हैं। जिस प्रकार बच्चे की वास्तविक समस्याओं को स्नेहशीला मां ही समझ सकती है उसी प्रकार पत्र-कारिता की मूल समस्याओं को सच्चा पत्रकार ही समझ सकता है। और फिर समस्या को उसकी सम्पूर्णता में समझना किसी ऐसे व्यक्ति के लिये ही सम्भव है जो उस क्षेत्र का विशेषज्ञ हो। इसलिये प्रेमचन्द हिन्दी पत्रों की दशा पर विचार करते हुए आगे कहते हैं—"किन्तु आजकल कोई समाचारपत्र केवल खबरों के बल पर सफल नहीं हो सकता। उसमें जनता और भी चीजें चाहती

है, जिससे उसका विचार फैले, उसकी जानकारी बढ़े, उसके भावों का परिष्कार हो, वह संसार के विचार-प्रवाह में मिल सके। ऐसे लेख दो पैसे के पत्र में कहाँ से आवें। उसकी सारी शक्ति खबरों के अनुवाद करने में ही खर्च हो जाती है। इसलिये यह आम शिकायत सुनने में आती है कि हिन्दी पत्रों में कुछ नहीं होता।" इस प्रकार प्रेमचन्द हिन्दी पत्रों की वास्तविक कठिनाइयों को हमारे सामने लाते हैं और हमारी आँखें खोलते हैं। यह काम कोई ऐसा आदमी नहीं कर सकता जो जबरन पत्रकारिता के क्षेत्र में फेंक दिया गया हो। वस्तु-स्थिति का इतना निकट का अध्ययन, समुपस्थित तथ्यों के प्रति इतनी रुचि और गम्भीरतर समस्याओं के निराकरण की चेष्टा, ये सारी बातें सिद्ध करती हैं कि प्रेमचन्द एक सच्चे साहित्यकार के साथ सच्चे पत्रकार भी थे। तभी तो उन्होंने उपरिलिखित कठिनाइयों को ध्यान में रखकर कहा—"इसीलिये हमें एक अनुवादक मंडल की आवश्यकता है। इस मंडल का यह काम हो कि वह पश्चिमी पत्रों से विचारपूर्ण ज्ञानवर्द्धक लेखों का अनुवाद करके हिन्दी पत्रों को दे।" यह है प्रेमचन्द की योजना का प्रारम्भिक रूप। लेकिन इसी से स्पष्ट होता है कि वे इस क्षेत्र के आदमी हैं। एक 'मास्टर प्लैनर' का रूप यहाँ आसानी से देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द का हास्य-व्यंग्य

प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य के बड़े जिन्दादिल लेखक माने जाते हैं। हँसना-हँसाना उनका स्वभाव था। बचपन से ही उनमें यह प्रवृत्ति थी। मित्रों ने उनका नाम ही बम्बूक रख दिया था। बम्बूक अर्थात् बहुत हँसने और कहकहे लगाने वाला। प्रेमचन्द ने अपनी जिस पहली रचना का उल्लेख किया है, उसमें भी उन्होंने अपने मामू की हँसी ही उड़ाई है, जो एक चमारिन से प्रेम करते थे। इस प्रकार उन्होंने साहित्य की शुरूआत हँसी से की। उनके प्रथम उपन्यास 'असरारे मआबिद' में भी ऐसे कई कथोपकथन हैं जिनसे हँसी फूटी पड़ती है। उदाहरण के लिये बातचीत का एक टुकड़ा लीजिये। त्रिलोकी नामक एक पियक्कड़ बड़ी मुश्किल से एक कमसिन छोकरी को प्याले में शराब उंडेलने के लिये राजी करता है और कहता है—"ईश्वर जानता है ऐसी खुशी हासिल हुई कि जैसे स्वर्ग का

द्वार खुल गया।" इस पर छोकरी फब्ती कसती है—"जी हाँ, जरूर, बहिश्त का दरवाजा आप जैसे पियक्कड़ों के लिये ही तो खुलेगा !" बातचीत की यह शोखी और छेड़छाड़ उनके अन्य उपन्यासों में भी है। ऐसे कितने ही दृष्टान्त उनके उपन्यासों से गिनाये जा सकते हैं। लेकिन यहाँ हम उनके पत्रों और लेखों से हास्य व्यंग्य के कुछ मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

दिसम्बर सन् १९३० में प्रेमचन्द ने लखनऊ से जैनेन्द्रजी को पत्र लिखा—"पत्र मुबारक। ईश्वर चिरायु करे। या यों कहूँ चिरायु हो। मैं तो पुराने ख्याल का आदमी हूँ। दो पुत्रों तक तो बधाई दूँगा, इसके बाद जरा सोचूँगा।" कैसा प्रच्छन्न उपदेश और मीठी चुटकी ! मानो यह लिखकर, घनी मूछों में छिपकर, धीरे-धीरे मुस्कुरा रहे हों !

भारतीय समाज में गन्दी गालियों को भी महत्त्व मिला हुआ है। इस पर विचार करते हुए लिखते हैं—"हममें से कितने ही शौकीन रंगीन तबीयत के लोग ऐसे निकलेंगे जो सुन्दरियों के मुँह से गालियाँ सुनना सबसे बड़ा सौभाग्य समझते हैं। बदजबानी भी गोया हसीनों के नखरे में दाखिल है।" बेहयाओं पर कितनी मीठी फब्ती कसी है। तीर का रुख है हसीनों की ओर, पर वार होता है रंगीलों पर। इसी क्रम में प्रेमचन्द सरकार को भी याद कर लेते हैं, लिखते हैं—"सरकार बहादुर ने आजकल गालियाँ बकने के लिये एक महकमा कायम कर रखा है। इस महकमें में शरीफजादे और रईसजादे लिये जाते हैं, उन्हें अच्छी तनख्वाहें दी जाती हैं और रिआया के अमन-चैन की जिम्मेदारी उन पर रखी जाती है।" कितना मीठा और छिपा वार है ! पिटने वालों का नाम तक नहीं लेते लेकिन वो पटकनियाँ देते हैं कि कुछ पूछिये मत। बन्दूक की एक गोली से दो चिड़ियों का शिकार ! सरकार और पुलिस दोनों का उपयुक्त सत्कार !

प्रेमचन्द को हास्य-रस के महत्त्व का प्रतिपादन करना है। वह इनका प्रिय रस जो ठहरा ! लेकिन जब तक रसराज अर्थात् शृंगार की महिमा खंडित न करेंगे तब तक हास्य-रस के महत्त्व को कौन स्वीकारेगा ? लीजिये इनके तर्क पर ध्यान दीजिये—"न जाने शृंगार को क्यों प्रधान रस माना जाता है ? जिस रस का आरम्भ सत्रह वर्ष से पहले नहीं होता और कदाचित् चालीस वर्ष के पहले

समाप्त हो जाता है उसे प्रधान क्यों माना जाय ?" है आपके पास इस तर्क का कोई जवाब ? चुप रहिये और हास्य-रस को रसराज मानिये !

पत्रकार पागल होते हैं, समाज में यह प्रवाद प्रचलित है। लेकिन इसका प्रमाण क्या है ? कृपया प्रेमचन्दजी की बातों पर ध्यान दीजिये। वे पत्रकारों से कहते हैं—"दक्खिन अफ्रीका के हिन्दुस्तानी कुली वहाँ से निकाल दिये गये तो तुम क्यों पाजामा से बाहर हुए जा रहे हो ? और तो कोई नहीं बोलता ? वकील है, वह इतमीनान से बहस कर रहा है। महाजन है, वह इतमीनान से बैठा रुपये को अशर्फियाँ बना रहा है। जमींदार है, वह इतमीनान से आसामियों से नजराने वसूल कर रहा है। और हमारा पागल सम्पादक उन अमार्ग कुलियों के दुख में खून के आँसू बहा रहा है !" अब तो आपको विश्वास हुआ कि पत्रकार पागल होते हैं। लेकिन जरा ध्यान दीजिये प्रेमचन्द ने पत्रकारों को पागल सिद्ध कर कितना ऊँचा स्थान दे दिया है और आप सबकी (मेरा मतलब वकीलों, महाजनों और जमींदारों जैसे लोगों से है) कितनी दुर्गति की है !

प्रेमचन्द दिल्ली नगर में होने वाले तेईसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम दिवस का विवरण दे रहे हैं। पत्रकार होने के नाते विवरण देना जरूरी जो ठहरा ! तो छोटी-मोटी बातों को नजर-अन्दाज कैसे कर दें ? विशेषकर उस दशा में जबकि उनमें कोई न कोई खूबी छिपी हो। लिखते हैं—"भोजनोतर विषय निर्वाचिनी की बैठक हुई। इस बैठक में वह जोश दिखता था जो भोजनोपरान्त किसी प्रस्ताव को बनाने में प्रकट होता है।" आप मुस्कराइये नहीं, और न तिलमिलाइये। यह तो एक सामान्य विवरण मात्र है। भोजनोपरान्त विषय निर्वाचिनी की बैठक शायद जान-बूझकर रखी गयी थी।

"सम्मेलन सानन्द समाप्त हुआ। स्वागतकारिणी के प्रबन्धकर्त्ताओं का प्रबंध प्रशंसायुक्त था। सम्मेलन की तैयारियाँ भी ठीक थीं। यह बात दूसरी है कि पास ही के 'रायल सिनेमा' में अधिक भीड़ रहती थी।" कैसा चुटीला व्यंग्य है ! एक ओर तो प्रबन्ध को प्रशंसायुक्त बताना और दूसरी ओर सम्मेलन के लिये उपयुक्त ख्याल न चुन पाने के कारण स्वागतकारिणी के सदस्यों पर मीठी महीन मार दोनों साथ-साथ हैं। और बेचारे सिनेमा देखने वाले भी नहीं बचे ! यदि एक

दिन सिनेमा नहीं देखते तो क्या बिगड़ जाता ? क्या सबके सब जाहिल, मूर्ख और मतिमंद थे ?

फरवरी और मार्च सन् १६३५ में प्रेमचन्द दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के लिये यात्रा करते हैं और मैसूर पहुँचते हैं। वहाँ हिन्दी के एक उपासक प्रो० नांजुन डैयपा उनका स्वागत करते हैं। ये मैसूर विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं और उर्दू भी पढ़ते हैं। ये प्रेमचन्द के प्रति 'उमड़ता हुआ रुझान' व्यक्त करते हैं और एक सिगरेटकेस भेंट देते हैं। लेकिन प्रेमचन्द तो पुराने बिगड़ैल ठहरे, बिगड़ जाते हैं। लिखते हैं—"आपसे यही शिकायत है कि आपने हाथी दाँत की नक्काशी से सजा हुआ एक सिगरेट बक्स भेंट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है।" बेचारे डैया का होम करते हाथ जला ! इसी को कहते हैं बेलौस बेमुरोव्वती !

इसी यात्रा क्रम में वे बंगलोर में मि० के० बी० ऐयर का व्यायाम मन्दिर देखने गये। मन्दिर का नाम है 'हर्क्यूलीस व्यायाम मन्दिर।' अब प्रेमचन्द इस नाम को लेकर ही फब्ती कस देते हैं—"हमारे हनुमानजी तो हर्क्यूलीस से कुछ कम न थे। हर्क्यूलीस ने अगर पहाड़ के दो टुकड़े कर दिये थे तो हनुमानजी सूर्य को साफ निगल गये थे और धौलागिरि पर्वत को एक हाथ पर उठाकर कोई ढाई हजार मील दौड़ते चले आये थे।" आये होंगे जनाब ! लेकिन कोई जरूरी है कि सबको अपने पौराणिक चरित्र प्रिय लगे हों ? कुछ लोग होते हैं जो हर बात के लिये विदेशों की ओर देखते हैं। इसके लिये आपको शिकायत क्यों हो ?

सन् १६३४ में श्री रामनरेश त्रिपाठी का नाटक 'जयन्त' प्रकाशित हुआ। उन्होंने उसकी प्रति प्रेमचन्द को आलोचनार्थ दी। बेचारे ने कहीं लिख दिया होगा कि नाटक केवल पाँच दिन में लिखा है। अब प्रेमचन्द को चुटकी लेने का मसाला मिल गया। लिखते हैं—"यह त्रिपाठीजी का नाटक है और लिखा गया है केवल पाँच दिन में। इस रफ्तार से तो शायद आप साल भर में पन्द्रह बीस नाटक लिख डालेंगे (जी नहीं, तिहत्तर—ले०) और इस क्षेत्र में विलम्ब करके आने की कसर पूरी कर देंगे।" लीजिये इनके सामने सच्ची बात प्रकट करना

भी गुनाह है। शायद आपको मास प्रोडक्शन से शिकायत है। लेकिन यह तो अधिक उत्पादन का युग ही है।

सन् १९३३ में काशी में दो कमिश्नरों की नियुक्ति हुई। दैनिक 'आज' ने अपनी एक टिप्पणी में आश्चर्य व्यक्त किया। वास्तव में शासन के लिये एक कमिश्नर काफी है। दो का शासन तो 'दुरूह' होगा। ऐसा रीतिकालीन कवि बिहारीलाल ने भी कहा है। लेकिन 'आज' की इस टिप्पणी से प्रेमचन्द नाराज हैं, लिखते हैं—"सरकार सर्वशक्तिमान है, वह चाहे तो इसी काशी में एक दरजन कमिश्नर रखकर दिखला दे। आप जोड़ी देखकर ही चकरा गये? फिर आपने देखा नहीं कि एक खालिस कमिश्नर है, दूसरा एडिशनल कमिश्नर।" कैसा बचाव किया है सरकार का! लेकिन सरकार ही समझती होगी कि वार कितना गहरा और वजनी है। शासन की फिजूलखर्ची की ऐसी चुभती आलोचना कम होती है।

सामान्य कर्मचारी ५५ साल के बाद नौकरियों से रिटायर्ड होते हैं। लेकिन हाई कोर्ट के जज साठ साल तक काम करते रहते हैं। अब प्रेमचन्दजी को यह निहायत नापसन्द है, लिखते हैं—"यह भेद क्यों? क्या मामूली डिपुटी मजिस्ट्रेट या क्लर्क बचपन ही में होश-हवास खो बैठता है और जज लोग किसी गुप्त आशीर्वाद से साठ साल तक होश-हवास कायम रखते हैं? या हाईकोर्ट के जजों के लिये होश-हवास की जरूरत नहीं समझी जाती और वे केवल कुर्सी तोड़ने के लिये रखे जाते हैं?" या खुदा, जजों ने प्रेमचन्दजी का क्या बिगाड़ा था? याद नहीं पड़ता कि कभी उन्होंने हाईकोर्ट में कोई मुकदमा किया हो और हार गये हों!

सन् १९३३ ई० में पेरिस में भीषण रेल दुर्घटना हुई। अब प्रेमचन्दजी अपने पाठकों को यह बताना जरूरी समझते हैं कि यह दुर्घटना कैसे हुई। लेकिन इतना बताकर ही वे सन्तुष्ट नहीं होते, भारत में होने वाली ट्रेन दुर्घटनाओं का विवरण भी देने लगते हैं। लिखते हैं—"यहाँ गाड़ियाँ लड़ती हैं सही, लेकिन कुछ इस खूबी से लड़ती हैं कि दो-चार आदमियों को मामूली खरोंचें लगकर रह जाती हैं (गोया रेलें न हुईं, बैलगाड़ियाँ हुईं—ले०)। मरे भी तो दो-चार मर गये। यह नहीं कि एक टक्कर में पाँच-सौ से ज्यादा चल बसे।" कितना चुभता

व्यंग्य है रेल-अधिकारियों और सरकार पर। विश्वसनीय आँकड़े देने में भी ये असमर्थ हैं। या खुदा, झूठ बोलना भी नहीं आता! तुरन्त पकड़े जाते हैं।

सन् १६३४ की बात है। डाकों की तादाद बढ़ती जाती है। लेकिन प्रेमचन्द इसके लिये पुलिस को दोष नहीं देते, लिखते हैं—"सरकार की पुलिस का काम है सरकार के शत्रुओं को पकड़ना और मिटाना। प्रजा की रक्षा सरकार की पुलिस क्यों करे? प्रजा की रक्षा प्रजा की पुलिस करेगी जो अनन्त भविष्य में बनेगी।" किस सफाई से सरकार और डाकुओं को चोर-चोर मौसेरे भाई सिद्ध किया है। इसी को कहते हैं पीटना और पानी न देना!

प्रेमचन्द की रचनाओं में ये कुछ उदाहरण स्पष्ट करते हैं कि प्रेमचन्द व्यंग्य करने में कितने सिद्धहस्त थे। उनका वार अचूक होता था। जब उनके पत्रों पर जमानत माँगा जाता था तो वे झींकते और झल्लाते थे और मन ही मन सोचते थे कि उन्होंने अधिकारियों का क्या बिगाड़ा है। शायद उस भोले आदमी को पता नहीं था कि उसकी लेखनी अधिकारियों के लिये कितनी विष-बुझी है। गरीबों और मजलूमों के लिये उनके दिल में जितना ही स्नेह, दया और करुणा थी; ढोंगियों, बेईमानों और हरामखोरों के लिये उतनी ही घृणा, अनादर और अवज्ञा। यही तो प्रेमचन्द का, करोड़ों लोगों को लुभाने वाला, मोहक व्यक्तित्व है।

प्रेमचन्द सम्बन्धी विशिष्ट ग्रंथों का परिचयात्मक विवरण

'प्रेमचन्द घर में'—प्रेमचन्द के जीवन पर प्रकाश डालने वाली यह पहली पुस्तक है। यह पहले सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुई और उसके बाद आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से। इसके प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन इतना निश्चित है कि यह प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हुई। इसमें श्रीमती शिवरानी देवी प्रेमचन्द ने कुछ घरेलू संस्मरण लिपिबद्ध किये हैं जिनका लेखिका की दृष्टि में साहित्यिक मूल्य इसलिये है कि उनसे प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। मानवता की दृष्टि से प्रेमचन्द कितने महान्, कितने सहज और कितने साधारण थे, यही बताना इस पुस्तक का उद्देश्य है।

लेखिका का कथन है—"यह पुस्तक साहित्यिक आलोचकों को भी प्रेमचन्द-साहित्य समझने में मदद पहुँचायेगी क्योंकि उनकी आदमीयत की छाप उनकी एक-एक पंक्ति और एक-एक शब्द पर है।" पुस्तक बहुत ईमानदारी से लिखी गई है और स्थान-स्थान पर प्रेमचन्द की मानव-सुलभ त्रुटियों और दुर्बलताओं का भी निर्देश है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने भूमिका में लिखा है—"इस पुस्तक में यद्यपि जगह-जगह पर उनकी (शिवरानीजी की) पति-भक्ति के उदाहरण विद्यमान हैं तथापि प्रेमचन्द से मतभेद होने की भी कई मिसालें उन्होंने दी हैं और उनके कारण स्वयं उनका और पुस्तक का भी महत्त्व बहुत बढ़ गया है।"

प्रेमचन्द-स्मृति—प्रेमचन्द के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली यह दूसरी पुस्तक है। इसका प्रकाशन सन् १९५९ में हंस प्रकाशन, इलाहाबाद से हुआ। पुस्तक के सम्पादक श्री अमृतराय ने भूमिका में लिखा है—"इधर वर्षों से हंस का प्रेमचन्द स्मृति अंक अप्राप्य था। उर्दू के 'जमाना' का जो स्मृति अंक प्रकाशित हुआ था उसके बारे में भी हिन्दी-पाठकों की जिज्ञासा थी। इनके अतिरिक्त इन वर्षों में रेडियो से भी कई मित्रों ने अपने संस्करण प्रसारित किये। इन सबमें से कुछ लेख चुनकर यहाँ संकलित किये जा रहे हैं। केवल साहित्य के मूल्यांकन से सम्बन्ध रखने वाले लेख छोड़ दिये गये हैं।" पुस्तक के अन्त में प्रेमचन्द का अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' और 'महाजनी सभ्यता' लेख भी संकलित हैं।"

कलम का सिपाही प्रेमचन्द—यह प्रेमचन्द की सबसे पहली प्रामाणिक जीवनी है, जिसे उनके पुत्र श्री अमृतराय ने लिखा है। इसका प्रकाशन सन् १९६२ में हंस प्रकाशन, इलाहाबाद से हुआ है। इसमें प्रेमचन्द के जीवन को उनके देश और समाज के जीवन से जोड़कर देखा गया है। इस कारण प्रेमचन्द के अति सामान्य जीवन को एक नया आशय, एक नयी अर्थवत्ता मिल गई है। लेखक ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"वह चीज क्या है जिससे अति सामान्य जीवन एक विशेष व्यक्ति का जीवन बनता है। कोई चमक-दमक यहाँ नहीं है, न कोई नाटकीय तत्त्व, न कोई रोचक जीवन प्रसंग, न प्रेम और साहस

के वैसे कोई प्रकरण, नितान्त बँधा-टँका जीवन, एक गरीब स्कूल मास्टर का या वैसे ही गरीब लेखक सम्पादक का। फिर भी कुछ तो है जो विशेष है। वह क्या है? उसी को जीवन के सन्दर्भ में देख सकने और दिखा सकने में मुझे रचनाकार का सच्चा सुख मिला है।" पुस्तक काफी अध्यवसायपूर्वक लिखी गई है और साढ़े छः सौ पृष्ठों में समाप्त हुई है। अन्त में परिशिष्ट एक में उपन्यासों का काल निर्देश है और परिशिष्ट दो में कहानियों का।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला—प्रेमचन्द के जीवन काल में प्रकाशित यह एक मात्र आलोचना पुस्तक है। डा० मदान ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक विवेचन' में इसका प्रकाशन वर्ष सन् १९४१ माना है जो गलत है। यह सन् १९३३ में वाणी पुस्तक मन्दिर, छपरा से प्रकाशित हुई। इसके लेखक श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' जहाँ रससिद्ध कवि हैं वहाँ एक कुशल कथाकार भी हैं। इस दृष्टि से उन्हें कथा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष का प्रत्यक्ष अनुभव है। प्रेमचन्द की उपन्यास-कला में उन्होंने बड़ी सहृदयता से प्रेमचन्द के उपन्यासों का विवेचन किया है।

प्रथम अध्याय में कथा-साहित्य के उद्‌भव और विकास पर विचार करते हुए हिन्दी कथा-साहित्य के संक्षिप्त इतिहास का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द की कृतियों की विवेचना की गई है। विवेचन के लिये जो आधार चुने गये हैं वे चिर-परिचित हैं। उपन्यासों में वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल-परिस्थिति, भाषा-शैली और उद्देश्य आदि का विचार किया जाता है। यहाँ भी लेखक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के इन्हीं अंगों का अलग-अलग अध्यायों में विवेचन किया है। पुस्तक के अन्त में प्रेमचन्द की तुलना देशी और विदेशी लेखकों से की गई और तुलनात्मक समीक्षा प्रणाली द्वारा प्रेमचन्द की त्रुटियों और उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है।

प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला—डा० प्रेमनारायण टंडन द्वारा सम्पादित यह पुस्तक सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुई। इसका उद्देश्य पाठकों को प्रेमचन्द के बारे में कुछ आलोचनात्मक सामग्री देना है। इसमें पहले तो प्रेमचन्द की विभिन्न कृतियों की आलोचना की गई है और उसके बाद प्रेमचन्द के व्यक्तित्व,

उनके आदर्श और यथार्थ विषयक विचार, उनकी उपन्यास कला, कहानी कला और भाषा-शैली, उपन्यासों में चर्चित सामयिक समस्याएँ, 'प्रेमचन्द और आधुनिक स्त्री समाज' कृति से ध्वनित होने वाले सन्देशों आदि का विवेचन है। इस संकलन की विशेषता यह है कि एक कृति पर विभिन्न लेखकों के लेख संकलित करने की चेष्टा है जिससे पाठक एक ही स्थान पर एकाधिक आलोचकों के मतों से परिचित हो जाता है।

प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व—श्री हंसराज 'रहबर' लिखित यह पुस्तक सन् १९५१ में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से प्रकाशित हुई। भूमिका में लेखक ने लिखा है—"प्रेमचन्द पर पहले भी कई पुस्तकें मौजूद हैं।" लेकिन सरल और सुबोध ढंग से और जनवादी दृष्टिकोण लेकर कोई पुस्तक सम्भवतः नहीं लिखी गई थी। इसीलिये रहबर ने इसकी रचना की। इसमें लेखक ने प्रेमचन्द के जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं का उल्लेख विस्तार से किया है और उनके आधार पर प्रेमचन्द के लेखकीय जीवन का ढाँचा खड़ा किया है। इस क्रम में जहाँ-तहाँ प्रेमचन्द के कथा-साहित्य से उद्धरण देकर उनके जीवन और साहित्य की एकतानता दिखाई गई है। लेखक ने कहा है—"प्रेमचन्द की जीवन-कहानी लिखने में उर्दू हिन्दी साहित्य और पत्रों से तथा उनके सगे-सम्बन्धियों, मित्रों और आलोचकों के लेखों से जितनी भी सहायता ली जा सकी है ली गई है।"

पुस्तक के अन्त में, परिशिष्ट १ में, 'साहित्य का उद्देश्य', 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ' और 'मृत्यु के पीछे' (कहानी) प्रेमचन्द की ये तीन रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं के संकलन का कारण सम्भवतः यह है कि ये प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व पर विशेष प्रकाश डालती हैं। परिशिष्ट २ में प्रेमचन्द-साहित्य पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाली गई है। इस क्रम में सबसे पहले उपन्यासों को लिया गया है। इसके बाद प्रेमचन्द के दो नाटकों 'संग्राम' और 'कर्बला' पर अति संक्षिप्त टिप्पणी है। सबसे अन्त में प्रेमचन्द की कुछ प्रसिद्ध कहानियों की संक्षिप्त आलोचना है।

प्रेमचन्द—डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित की यह पुस्तक सन् १९५२ में

साहित्य निकेतन, कानपुर से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के सम्बन्ध में डा० इन्द्रनाथ मदान ने 'प्रेमचन्द : एक विवेचन' में लिखा है—"यह डा० दीक्षित का पीएच० डी० के लिये प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है।" पर पुस्तक की भूमिका में ऐसा कोई संकेत नहीं है और न ही पुस्तक की रूपरेखा देखने से ऐसा लगता है कि यह शोध ग्रंथ है। डा० दीक्षित की पीएच० डी० की थीसिस का विषय है—सन्त कवि मलूकदास।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने प्रेमचन्द की साहित्यिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं राजनैतिक प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन, प्रेमचन्द और धर्म, प्रेमचन्द और भारतीय नारी, प्रेमचन्द और अछूत वर्ग, प्रेमचन्द और समाज, प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता, प्रेमचन्द के विचार, प्रेमचन्द गांधीवाद से जनवाद तक, इन अध्यायों में प्रेमचन्द-साहित्य को परखने की चेष्टा की गई है।

प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—यह पुस्तक हिन्दी भवन, प्रयाग से सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुई। इसके लेखक आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी हैं। पुस्तक के प्रारम्भिक परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास परम्परा का उल्लेख कर उसमें प्रेमचन्द का स्थान निरूपित किया गया है। उसके बाद सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, कर्मभूमि, गबन और गोदान का विवेचन है। फिर तीन छोटे उपन्यास कहकर प्रतिज्ञा, निर्मला और मंगलसूत्र का संक्षिप्त विवेचन है। इसके बाद कहानियों के संबंध में विचार किया गया है। कहानियाँ नारी संबंधी, ग्राम संबंधी, मनोविज्ञान संबंधी, राजनीति और समाज संबंधी विभागों में बाँट ली गई हैं। कुछ प्रतिनिधि कहानियों का उल्लेख करते हुए प्रेमचन्द के कहानीकार का विश्लेषण किया गया है। उपन्यासों के विवेचन में पहले तो संक्षिप्त कथानक दिया गया है और फिर चरित्र-चित्रण, विचार-विवेचन और कला-विवेचन के अन्तर्गत समीक्षा है।

प्रेमचन्द और उनका युग—यह प्रेमचन्द पर डा० रामविलास शर्मा की दूसरी पुस्तक है। पहली पुस्तक 'प्रेमचन्द (आलोचनात्मक परिचय)' सन् १९४१ में सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुई थी। यह दूसरी पुस्तक सन् १९५२

में दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें प्रेमचन्द और उनके युग का विवेचन न होकर प्रेमचन्द की मुख्य-मुख्य रचनाओं की विवेचना है। पुस्तक का नाम 'प्रेमचन्द और उनका युग' सम्भवतः यह सोचकर दिया गया है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में उनका युग बोलता है। अतः उनकी कृतियों का विश्लेषण एक प्रकार से उनके युग का ही विश्लेषण है।

पुस्तक के प्रथम लेख में प्रेमचन्द के जीवन पर विचार किया गया है। इसके बाद सेवासदन और प्रेमाश्रम का अलग-अलग विवेचन है। फिर 'निर्मला और गबन' और 'कायाकल्प और रंगभूमि' पर दो लेख हैं। इसके बाद 'कर्मभूमि और गोदान' का विवेचन है। फिर प्रेमचन्द की कुछ चुनी हुई कहानियों के आधार पर उनकी कहानियों के रूप-शिल्प और वस्तु-तत्त्व की समीक्षा है। तत्पश्चात् प्रेमचन्द के सम्पादक, विचारक और समालोचक रूप का उल्लेख और मूल्यांकन है। फिर प्रगतिशील साहित्य और भाषा की समस्या के सन्दर्भ में प्रेमचन्द को परखने की चेष्टा की गई है। अंत में युग-निर्माता प्रेमचन्द के रूप का संक्षिप्त निदर्शन है।

प्रेमचन्द : चिन्तन और कला—यह पुस्तक सन् १९५४ में सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुई। यह विभिन्न आलोचकों द्वारा लिखित प्रेमचन्द-साहित्य सबंधी आलोचनात्मक लेखों का संकलन है। सम्पादक डा० इन्द्रनाथ मदान ने कोई भूमिका वगैरह नहीं दी है। इसलिये यह स्पष्ट नहीं होता कि किन विशेष कारणों से यह संकलन प्रस्तुत किया गया है। संकलन का श्रीगणेश डा० मदान के लेख 'प्रेमचन्द : एक सामाजिक अनुशीलन' से होता है। इसके बाद सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गबन आदि पर विभिन्न आलोचकों के लेख हैं। फिर प्रेमचन्द की कहानियों पर तीन लेख हैं। इसके बाद प्रेमचन्द की कला और उनकी भाषा-शैली का विवेचन है। इसके बाद प्रेमचन्द : एक सर्वेक्षण, प्रेमचन्द : एक समीक्षा, प्रेमचन्द : एक परिचय, ये तीन लेख हैं। फिर प्रेमचन्द और भारतीय नारी पर विचार किया गया है। अंत में डा० मदान का समापन लेख है प्रेमचन्द के सामाजिक उद्देश्यों पर।

प्रेमचन्द : एक विवेचन—डा० इन्द्रनाथ मदान की यह पुस्तक सन् १९५५

में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुई। इसमें प्रेमचन्द के "समस्त उपन्यासों और कुछ प्रतिनिधि कहानियों का अध्ययन इस दृष्टि से करने की चेष्टा की गई है कि उनके युग के अनुकूल उनके मस्तिष्क और कला के विकास-क्रम को" समझा जा सके। प्रेमचन्द-साहित्य का इस प्रकार का अध्ययन लेखक इसलिये आवश्यक समझता है कि उसकी दृष्टि में प्रेमचन्द साहित्य के साथ-साथ समाज के भी सृष्टा कहे जा सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि डा० मदान ने सबसे पहले प्रेमचन्द-साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव किया। उन्होंने आमुख में लिखा है—"जिस वर्ग-संघर्ष को उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में इतनी स्पष्टता से चित्रित किया है, उसी वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में उनकी कला का विवेचन और उनके मस्तिष्क का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।" इस प्रकार लेखक ने सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की रचनाओं का विशिष्ट अध्ययन किया है।

पुस्तक प्रेमचन्द युग की पूर्व पीठिका के विवेचन से शुरू होती है। इसके बाद प्रेमचन्द की संक्षिप्त जीवनी है। फिर प्रेमचन्द के उपन्यासों में चित्रित मध्यवर्ग, भूमिपति, उद्योगपति, किसान और अछूत आदि का विस्तृत विवेचन है। फिर प्रेमचन्द की कला और उनके शिल्प पर विचार किया गया है। इसके बाद कहानियों का विवेचन है और विचार किया गया है कि प्रेमचन्द का सामाजिक उद्देश्य क्या था। परिशिष्ट १ में कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, परिशिष्ट २ में प्रेमचन्द के दो पत्र और परिशिष्ट ३ में प्रेमचन्द की पुस्तकों, उन पर प्रकाशित आलोचना पुस्तकों और प्रबंध से संबंधित कुछ सामान्य पुस्तकों की सूची दी गई है।

प्रेमचन्द और गोर्की—प्रेमचन्द और गोर्की का तुलनात्मक अध्ययन (?) प्रस्तुत करने वाला यह ग्रंथ सन् १९५५ में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसकी सम्पादिका श्रीमती शचीरानी गुर्टू हैं। इसमें प्रेमचन्द पर तेतीस और गोर्की पर बाईस लेख संकलित हैं। इस प्रकार पुस्तक के दो खंड हो जाते हैं—प्रेमचन्द खंड और गोर्की खंड। इन दोनों खंडों में दोनों लेखकों पर

अलग-अलग विचार किया गया है। खंडों को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि लेखकगण प्रेमचन्द और गोर्की का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते हैं। प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना वास्तव में तीन लेखों में की गई है। उनमें भी मूलतः दो ही लेख—एक शचीरानी गुर्टू का जो भूमिका है और दूसरा शिवदान-सिंह चौहान का—प्रेमचन्द और गोर्की का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। श्री चौहान ने गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना का विरोध किया है। कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है—"कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की कृतियाँ गोर्की की तुलना में नहीं रखी जा सकतीं। कम से कम उनके उपन्यास तो नहीं ही, इसलिये नहीं कि गोर्की की अधिकांश कृतियाँ विश्व-साहित्य में क्लासिक बन गई हैं और प्रेमचन्द की कुछ कृतियाँ ही तत्काल के लिये भारतीय साहित्य में क्लासिक का दरजा पा सकी हैं और विश्व-साहित्य में उनकी मान्यता नहीं के बराबर है।" इसके अतिरिक्त भी चौहान ने अन्य कारणों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना ठीक नहीं।

सम्पादिका ने मूल भूमिका के अतिरिक्त एक और भूमिका लिखकर चौहान की धारणाओं का खंडन किया है। उनका कहना है कि प्रेमचन्द अवश्य ही गोर्की से तुलनीय हैं क्योंकि जहाँ दोनों में अनेक असमानताएँ हैं वहाँ कुछ साम्य भी है जैसे—"खून पसीना और अश्रुओं के सम्मिश्रण से उमड़ा अन्तर का हाहाकार, उबलता जोश, कसकती वेदना, चिहुकती टीस, जीवन की असीम थकान और बेचैनी।"

"प्रेमचन्द और गोर्की दोनों ने ही अपने-अपने उपन्यासों में किसान और मजदूर के परवश जीवन, उनके कष्टों और संघर्षों का विशद चित्रण कर जमींदार, मिल-मालिक, पटवारी, पुलिस और राज-कर्मचारियों के जोर-जुर्म और ज्यादतियों पर प्रहार किया है।" (पृ० १३)

प्रेमचन्द के 'गोदान' और गोर्की के प्रख्यात उपन्यास 'मां' में बहुत कुछ साम्य है—साम्य इस रूप में कि इन दोनों उपन्यासों की केन्द्रीय आत्मा एक है, उनमें एक-सी प्रतिध्वनि गूँज रही है—"हम कमजोर मानव जो व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादे रूढ़ियों, अंध-विश्वासों और मिथ्या मान-मर्यादाओं के मलबे के

नीचे दबे पड़े हैं, वह हमारी अधोगति और पराजय का द्योतक है।" (पृ० १३-१४)

"प्रेमचन्द और गोर्की इन दोनों कलाकारों का लक्ष्य एक ही है—मानव जीवन का उत्थान और हमवतन भाइयों का हित चिन्तन।" (पृ० १६) सम्पादिका के इन निष्कर्षों के आधार पर गोर्की और प्रेमचन्द की तुलना उचित है। लेकिन प्रश्न यह है कि ६०० पृष्ठों वाले इस ग्रंथ में दोनों की तुलना हुई कहाँ ?

प्रेमचन्द युग और वर्ग-भावना—यह संक्षिप्त निबन्ध श्री प्रतापनारायण टंडन ने एम० ए० की थीसिस रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया। सन् १९५६ में इसका प्रकाशन विश्वविद्यालय द्वारा ही हिन्दी उपन्यास में वर्ग-भावना (प्रेमचन्द युग) के रूप में हुआ। इसमें लेखक ने प्रेमचन्द युग की सीमा सन् १९१० से लेकर सन् १९३५ तक मानी है। "प्रबंध के पहले अध्याय में उन ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का, जिन्होंने आधुनिक युग के साहित्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है, तथा आधुनिक उपन्यास का प्रारंभिक विकास दिखाते हुए प्रेमचन्द के पूर्व के हिन्दी उपन्यास साहित्य का, संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे अध्याय में सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में नवजागरण दिखाया गया है। वर्ग-भावना की भी इसी अध्याय में विवेचना की गई है। तीसरे अध्याय में विभिन्न राजनीतिक साहित्यिक वादों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चौथे तथा पांचवें अध्यायों में क्रमशः प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों की वैचारिक पृष्ठभूमि का परिचय देते हुए विभिन्न वर्गों के प्रति उनकी कृतियों में अभिव्यक्त उनका दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न किया गया है। छठे तथा अंतिम अध्याय में प्रवृतियों के अनुसार हिन्दी उपन्यास का विकास तथा प्रेम-चन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।"

समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द—डा० महेन्द्र भटनागर का यह प्रबन्ध सन् १९५७ ई० में पीएच० डी० की उपाधि के निमित नागपुर विश्व-विद्यालय से स्वीकृत हुआ और उसी वर्ष हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। "प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध प्रेमचन्द के उपन्यासों में उठाई गई समस्याओं से है जिसके कारण प्रेमचन्द के उपन्यास समस्यामूलक अथवा

समस्याओं के उपन्यास बन जाते हैं।" लेखक ने स्पष्ट किया है कि आलोचक साधारणत: उपन्यासों की दो कोटियाँ निर्धारित करते हैं—सामाजिक उपन्यास और व्यक्ति चरित्र के उपन्यास। प्रेमचन्द के उपन्यासों की गणना इन्हीं दोनों में से किसी एक में या दोनों में करते हैं। इससे लेखक का विरोध है। वे कहते हैं—"प्रेमचन्द के प्राय: सभी उपन्यास सामाजिक हैं, पर उनकी सामाजिकता किसी न किसी समस्या पर ही आधारित है।" इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यास मूलत: समस्यामूलक हैं, लेखक का यह निष्कर्ष है। "उनके उपन्यासों को व्यक्ति चरित्र के उपन्यास कहना उनके महत्त्व को कम करना है। वास्तव में उनके मानस-पट पर भारतीय जनता की समस्याओं का जाल ऐसा बिछा हुआ था कि वे उससे किसी भी दशा में मुक्ति न पा सके और न पाना ही चाहते थे।" इसलिये लेखक ने कहा है कि प्रेमचन्द पहले समस्याओं को महत्त्व देते हैं और बाद में चरित्रांकन को।

प्रबन्ध के प्रारम्भ में प्रेमचन्द के समय के भारत का चित्र उपस्थित किया गया है और उसमें मध्यवर्ग की क्या स्थिति है यह दिखाया गया है। यहाँ केवल मध्यवर्ग के उल्लेख का कारण सम्भवत: यह है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में चर्चित समस्याओं में से अधिक का मध्यवर्ग से ही सम्बन्ध है। फिर प्रेमचन्द की साहित्य सम्बन्धी मान्यताएँ, उनका जीवन-दर्शन और उनके मानवतावादी रूप का उल्लेख और विश्लेषण है। इसके बाद भारतीय स्वाधीनता, रियासत और देशी नरेश, साम्प्रदायिकता, शिक्षा, उद्योग, ग्रामीण जीवन, अछूत वर्ग और वेश्या जीवन की समस्याओं पर विचार किया गया है। इस प्रकार लेखक ने जानना चाहा है कि वे कौन-कौन सी समस्याएँ थीं जिन्हें प्रेमचन्द हल करना चाहते थे, उनकी ओर समाज का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे। उन समस्याओं के प्रति प्रेमचन्द के अपने विचार क्या थे और इस प्रकार प्रेमचन्द एक समस्या-मूलक उपन्यासकार के रूप में कहाँ तक सफल हैं।

प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प—श्री हरस्वरूप माथुर की यह पुस्तक दिसम्बर सन् १९५७ में भारती प्रतिष्ठान, कानपुर से प्रकाशित हुई। भूमिका के लेखक हैं डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित। पुस्तक का प्रारम्भ हिन्दी उपन्यास

परम्परा और प्रेमचन्द नामक छोटे लेख से होता है। फिर वरदान से लेकर मंगलसूत्र तक की सामान्य आलोचना है। कथा का परिचय, वस्तु का विश्लेषण, पात्रों की विशेषताएँ, कृति में चित्रित समाज और उद्देश्य के व्याज से सभी उपन्यासों की आलोचना की गई है। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देश-काल, भाषा-शैली, उद्देश्य, त्रुटियाँ और असावधानियों के विवेचन के बाद अंत में उपन्यास-साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान निरूपित किया गया है।

प्रेमचन्द : एक अध्ययन—डा० राजेश्वर गुरु का प्रस्तुत प्रबन्ध सन् १९५७ में नागपुर विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि के निमित स्वीकृत हुआ और सन् '५८ में मध्यप्रदेशीय प्रकाशन समिति, भोपाल से प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने प्रेमचन्द के जीवन, चिन्तन और कला का अत्यन्त वस्तुपरक चित्र अंकित करने का प्रयास किया है। लेखक के अनुसार प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) 'प्रवेश' में प्रेमचन्द के विभिन्न आलोचकों का क्रमागत उल्लेख, उनके विवेचन की मूल बातें और इन विवेचनों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण। यह खंड लेखक ने इसलिये आवश्यक समझा है कि "जब तक प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अन्य आलोचकों की बातें न जान ली जायें तब तक प्रेमचन्द सम्बन्धी भ्रामक तथ्यों के सम्बन्ध में विवेचनात्मक ढंग से नहीं लिखा जा सकता। (२) 'जीवन सार' में प्रेमचन्द की जीवनधारा और उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्मावलोकन है। (३) 'कुछ विचार' में प्रेमचन्द के साहित्य विषयक ऐसे विचारों का समावेश, अध्ययन और आलोचन किया गया है जिन्हें जाने बिना प्रेमचन्द-साहित्य की आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता। (४) 'प्रेमचन्द-साहित्य की पृष्ठभूमि' में प्रेमचन्द के युग की विश्लेषणात्मक परख की गई है और युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रति प्रेमचन्द के रुख को स्पष्ट किया गया है। गांधीवाद और साम्यवाद के विश्लेषण के द्वारा प्रेमचन्द की मनोरचना का स्वरूप व्यक्त किया गया है। (५) 'प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण और विकास-क्रम' में प्रेमचन्द की समस्त रचनाओं का विवेचन है। उपसंहार में प्रेमचन्द की कला और उनके जीवन-दर्शन की विवेचना है। परिशिष्ट में प्रेमचन्द-साहित्य की सूची और प्रेमचन्द सम्बन्धी आलोचना साहित्य का उल्लेख है।

प्रेमचन्द—श्री विश्वम्भर 'मानव' की प्रस्तुत पुस्तक सन् १९६१ में किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। प्रारम्भ में 'जीवन यात्रा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रेमचन्द के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। फिर उपन्यासकारों के बीच में प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती और उनके समकालीन उपन्यासकारों का उल्लेख है और उनके बीच प्रेमचन्द का स्थान निरूपित किया गया है। फिर उद्देश्य की व्यापकता पर विचार कर समस्याओं और समाधानों का विवेचन है। कहानियों के विवेचन क्रम में उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—पारिवारिक जीवन की कहानियाँ, आदर्श की प्रतिष्ठा करने वाली कहानियाँ, कर्म का महत्त्व प्रतिपादित करने वाली कहानियाँ, उत्तरदायित्व की भावनावाली कहानियाँ, जागरण की कहानियाँ, राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित कहानियाँ, अलौकिक तत्त्वों वाली कहानियाँ, आधुनिकाओं से सम्बन्धित कहानियाँ और विविध प्रकार की कहानियाँ। इसके उपरान्त प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों का विवेचन है। विवेचन में प्रायः चरित्रों की विशेषताओं का उल्लेख है। अंत में प्रेमचन्द के महत्त्व पर एक छोटा-सा लेख है।

प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार—श्री मन्मथनाथ गुप्त की यह पुस्तक सन् १९६१ में सरस्वती प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुई जो उनकी पहली पुस्तक 'कथाकार प्रेमचन्द' का ही संशोधित और परिवर्द्धित रूप है। 'कथाकार प्रेमचन्द' का प्रकाशन उन्होंने रमेन्द्र वर्मा के सहयोग से किया था क्योंकि तब वे जेल में थे और रमेन्द्र वर्मा को बोलकर लिखाते थे। प्रस्तुत संस्करण में पहले तो उन्होंने प्रेमचन्द के पहले के कथा साहित्य पर विचार किया है और उसके बाद प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचनाएँ और उन पर उर्दू के प्रभावों का उल्लेख है। 'मनुष्य और लेखक प्रेमचन्द' में प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व के कुछ मूलभूत आधारों का उल्लेख है। इसके बाद प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों की आलोचना है। फिर प्रेमचन्द की मुख्य-मुख्य कहानियों, उनके नाटकों और बालसाहित्य का विवेचन है। अंत में 'विश्व-साहित्य में उपन्यासकार प्रेमचन्द' परिच्छेद है जो इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें प्रेमचन्द के विवेचन क्रम में बहुत-सी नयी और मौलिक बातें कही गई हैं और अनेक वाद-

विवादों का निबटारा किया गया है। पुस्तक में लेखक जिस दृष्टिकोण को लेकर चला है वह उसके शब्दों में इस प्रकार है—"प्रेमचन्द-साहित्य एक ओर अविभाज्य है। वह प्रारम्भ से ही वस्तुवादी थे और वस्तुवाद की बदौलत बढ़ते-बढ़ते इस नतीजे पर पहुँचे कि केवल आदर्शवादी विचारधारा से समाज को बदलना सम्भव नहीं है।"

प्रेमचन्द और गांधीवाद—श्री रामदीन गुप्त लिखित यह ग्रन्थ मार्च सन् १९६१ में हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसमें विषय प्रवेश के अन्तर्गत इन बातों पर विचार किया गया है—प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास की स्थिति, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रगति और उसमें प्रेमचन्द का महत्त्व, प्रेमचन्द सम्बन्धी आलोचना का संक्षिप्त परिचय, पर्यालोचन और उनका वर्गीकरण और विश्लेषण। इसी खण्ड में आधुनिक हिन्दी साहित्य पर गांधीवाद के प्रभाव का भी विवेचन है। दूसरे अध्याय में साहित्य और जीवन के कुछ सैद्धान्तिक प्रश्नों पर विचार किया गया है जैसे वाद का अभिप्राय, साहित्य और वाद, साहित्य में युग धर्म का चित्रण, साहित्य और प्रोपेगैण्डा, प्रेमचन्द-साहित्य और प्रोपेगैण्डा आदि। तीसरे अध्याय में गांधीवाद का संक्षिप्त विवेचन है। चौथे अध्याय में प्रेमचन्द-युगीन परिस्थितियों का विश्लेषण है। पाँचवें अध्याय में उपन्यासकार प्रेमचन्द का और छठे अध्याय में कहानीकार प्रेमचन्द का गांधीवाद के परिपार्श्व में अध्ययन है। अंत में परिशिष्ट के अन्तर्गत डा० रामविलास शर्मा का एक पत्र संकलित है जो उन्होंने लेखक को लिखा था। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द-साहित्य और सहायक ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं की सूची है।

प्रेमचन्द के नारी पात्र—ओम अवस्थी की इस पुस्तक का प्रकाशन दिसम्बर सन् १९६२ में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से हुआ। यह दिल्ली विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिये मनोनीत प्रबन्ध के रूप में लिखी गयी था। इसके प्रथम अध्याय में प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास में नारी चित्रण पर विचार किया गया है। इसके बाद प्रेमचन्द के नारी पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण हुआ है। फिर लेखक प्रेमचन्द की नारी भावना पर विचार करता है। तत्पश्चात् वह प्रेमचन्द के नारी पात्रों का वर्गीकरण करता है, जिसमें

प्रेमिका रूप, परिणीता रूप, मातृ रूप, राष्ट्रसेविका रूप, विधवा रूप और कामिनी रूप के कई भेदोपभेद करता है। इस सन्दर्भ में वह प्रेमचन्द के विशिष्ट नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण पर विचार करता है। प्रेमिका रूप के अन्तर्गत वह प्रेमा, विरजन, सोफिया, मनोरमा, रूपिया, तारा, लज्जा, लैला, चन्दा, सिलिया, जैनी, मालती, माधवी आदि के चरित्र-चित्रणों पर विचार करता है। परिणीता रूप में वह सुमित्रा, सुमन, विद्यावती, श्रद्धा, विलासी, कुल्सूम, जालपा, रतन, निर्मला, मुन्नी, धनिया, गोविन्दी, रानी सारन्धा, उमा और लौंगी के सम्बन्ध में विचार करता है। मातृ रूप में रानी जाह्नवी, सलोनी और करुणा की चारित्रिक विशेषताओं पर दृक्पात है। राष्ट्रसेविका रूप में सुखदा और मृदुला आती हैं। विधवा रूप में गायत्री, कैलासी और प्यारी का उल्लेख है। ये विभिन्न नारी चरित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों के हैं।

प्रेमचन्द-युगीन हिन्दी उपन्यासों का प्रकाशन वर्ष

प्रेमचन्द ने सन् १९०१ से उपन्यास लिखना (उर्दू में) शुरू किया। सन् १९१८ में उनका सुप्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार सन् १९०१ से सन् १९१८ तक का समय प्रेमचन्द का प्रारम्भिक निर्माण काल है। इस बीच हिन्दी में कौन-कौन से उपन्यास छपे, इसका लेखा-जोखा इस प्रकार है—

देवकीनन्दन खत्री	भूतनाथ	सन् १९०६
किशोरीलाल गोस्वामी	कुसुमकुमारी	१९०१
	तारा	१९०२
	चपला	१९०३
	चन्द्रवली कुतूहल	१९०४
	कुटीरवासिनी (तरुण तपस्विनी)	१९०५
	सौतिया डाह	१९०७
अयोध्यासिंह उपाध्याय	अधखिला फूल	१९०७
लज्जाराम शर्मा	आदर्श दम्पति	१९०४
	हिन्दू गृहस्थ	१९०५
	बिगड़े का सुधार	१९०७
	आदर्श हिन्दू	१९१४
ब्रजनन्दन सहाय	सौन्दर्योपासक	१९१२
	आरण्य बाला	१९१५

सन् १९१८ में 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ और सन् १९३६ में 'गोदान'। इस प्रकार १८ वर्षों का समय प्रेमचन्द का सृजन काल है। इस बीच जो उपन्यास

प्रकाशित हुए उनका लेखा-जोखा इस प्रकार है—

जयशंकर प्रसाद	कंकाल	१९२९
	तितली	१९३४
विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	मां	१९२९
	भिखारिनी	?
चतुरसेन शास्त्री	हृदय की परख	१९१८
	व्यभिचार	१९२४
	हृदय की प्यास	१९३२
	अमर अभिलाषा	१९३३
वृन्दावनलाल वर्मा	लगन	१९२८
	गढ़ कुण्ढार	१९२९
	प्रेम की भेंट	१९३१
	कुंडली चक्र	१९३२
	विराटा की पद्मिनी	१९३६
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'	चन्द हसीनों के खतूत	१९२३
	बुधुआ की बेटी	१९२८
ऋषभचरण जैन	वेश्या पुत्र	१९२९
	सत्याग्रह	१९३०
जैनेन्द्रकुमार	परख	१९३०
	सुनीता	१९३५
	त्यागपत्र	१९३७
इलाचन्द्र जोशी	घृणामयी	१९२९
सियारामशरण गुप्त	गोद	१९३२
	अंतिम आकांक्षा	१९३३
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विदा	१९२८
भगवतीचरण वर्मा	चित्रलेखा	१९३४

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	अप्सरा	१९३१
	अलका	१९३३
	प्रभावती	१९३६
	निरूपमा	१९३६
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	प्रेमपथ	१९२६
	मीठी चुटकी	१९२८
	अनाथ पत्नी	१९२८
	मुस्कान	१९२९
	लालिमा	१९३४
	प्रेम निर्वाह	१९३४
	पतिता की साधना	१९३६
उषादेवी मित्रा	वचन का मोल	१९३६

(यह सूची डा० गणेशन की पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' के आधार पर प्रस्तुत की गई है।)

प्रेमचन्द विषयक आलोचना-ग्रंथों की सूची

१	प्रेमचन्द की उपन्यास कला	जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'	सन् १९३३
२	प्रेमचन्द (आलोचनात्मक परिचय)	डा० रामविलास शर्मा	१९४१
३	प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला	सं० डा० प्रेमनारायण टंडन	१९४२
४	कथाकार प्रेमचन्द	मन्मथनाथ गुप्त, रमेन्द्रनाथ वर्मा	१९४७
५	शांति के योद्धा प्रेमचन्द	अमृतराय	१९५०
६	प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	१९५१
७	प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	नन्ददुलारे वाजपेयी	१९५२
८	प्रेमचन्द	डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित	१९५२
९	प्रेमचन्द और उनका युग	डा० रामविलास शर्मा	१९५२
१०	प्रेमचन्द : चिन्तन और कला	सं० डा० इन्द्रनाथ मदान	१९५४

११	प्रेमचन्द : एक विवेचन	डा० इन्द्रनाथ मदान	१९५५
१२	प्रेमचन्द और गोर्की	सं० शचीरानी गुर्टू	१९५५
१३	प्रेमचन्द युग और वर्ग-भावना	डा० प्रतापनारायण टंडन	१९५६
१४	समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द (थीसिस)	डा० महेन्द्र भटनागर	१९५७
१५	प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प	हरस्वरूप माथुर	१९५७
१६	प्रेमचन्द : एक अध्ययन (थीसिस)	डा० राजेश्वर गुरू	१९५८
१७	प्रेमचन्द-स्मृति	सं० अमृतराय	१९५९
१८	प्रेमचन्द	विश्वम्भर 'मानव'	१९६१
१९	प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार	मन्मथनाथ गुप्त	१९६१
२०	प्रेमचन्द और गांधीवाद	रामदीन गुप्त	१९६१
२१	प्रेमचन्द कलम का सिपाही	अमृतराय	१९६२
२२	प्रेमचन्द घर में	शिवरानी देवी (प्रकाशन वर्ष अज्ञात)	
२३	प्रेमचन्द	डा० रामरतन भटनागर	१९४४
२४	कलाकार प्रेमचन्द	,,	१९५१
२५	प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना	डा० पद्मसिंह शर्मा कमलेश	
२६	प्रेमचन्द उनकी कहानी कला	डा० सत्येन्द्र	
२७	कहानी कला और प्रेमचन्द	श्रीपति शर्मा	
२८	प्रेमचन्द के पात्र	सं० कोमल कोठारी विजयदान जेथा	
२९	प्रेमचन्द और ग्राम समस्या	डा० प्रेमनारायण टंडन	१९३९
३०	प्रेमचन्द प्रतिभा	कमलादेवी गर्ग	१९५०
३१	उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द	रत्नशंकर शर्मा	
३२	प्रेमचन्द का नारी चित्रण (थीसिस)	डा० गीतालाल	
३३	प्रेमचन्द के नारी पात्र	ओम अवस्थी	
३४	प्रेमचन्द (अंग्रेजी में)	मदनगोपाल	

३५	प्रेमचन्द	राजनाथ शर्मा	१९५६
३६	प्रेमचन्द और उनका गोदान	बलदेवकृष्ण	
३७	उपन्यासकार प्रेमचन्द और गोदान	डा० शिवनारायण श्रीवास्तव	
३८	उपन्यासकार प्रेमचन्द और गबन	,,	
३९	प्रेमचन्द्र सुभाषित और सूक्तियाँ	श्रीशरण	
४०	प्रेमचन्द और गोदान	डा० राम वशिष्ठ	

